आलोचना और आलोचना

[सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाओं का संकलन]

डा० देवीशंकर अवस्थी

प्रज्ञा प्रकाशन
कानपुर

प्रज्ञा प्रकाशन, कानपुर
की ओर से
साहित्य निकेतन,
श्रद्धानन्द पार्क, कानपुर
द्वारा प्रकाशित एवं वितरित

प्रथम संस्करण : १९६१

मूल्य ४.०० रुपये

आवरण : श्री सिद्धेश्वर अवस्थी

मुद्रक
कोहिनूर प्रिंटर्स
कानपुर

अनुक्रम

समीक्षा-शास्त्र : उपयोगिता का प्रश्न

साहित्य और साहित्यिक अध्ययन में अन्तर होता है। बहुधा हमें ऐसे अध्ययन के रूपों, प्रकारों एवं सिद्धान्तों की विवेचना पढ़ने को मिलती रहती है। परन्तु ऐसी विवेचनाओं को पढ़ने के पूर्व आवश्यक है कि ऐसे अध्ययन की उपयोगिता पर विचार कर लिया जाय, तथा यह भी जान लेना आवश्यक है कि ऐसा अध्ययन अन्य अध्ययनों से कहाँ तक विशिष्ट होता है। यहीं पर यह स्पष्ट कर लेना भी आवश्यक है कि इस अध्ययन की विविध संज्ञायें हैं—साहित्य शास्त्र, काव्य शास्त्र, अलंकार शास्त्र, समीक्षा या समालोचना शास्त्र आदि नामों से विद्वानों ने इसे पुकारा है।

बहुधा लोगों ने साहित्य और उसके अध्ययन के अन्तर को मिटा देना चाहा है। राजशेखर ने काव्य मीमांसा में किसी पुराने आचार्य का मत उद्धृत किया है कि कवि और भावक में भेद नहीं है क्योंकि दोनों ही कवि हैं। प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान जानसन ने तो अत्यन्त शक्ति के साथ कहा था, "To judge of poets is only the faculty of poets; and not of all poets, but the best.

(कवियों का निर्णय (परख) कर सकना कवि की ही शक्ति है और सभी कवियों की नहीं, मात्र श्रेष्ठतम की।) परन्तु जैसा कि राजशेखर ने आगे कालिदास को उद्धृत किया है कि कवित्व से भावकत्व पृथक है। एक का विषय उद्‌घट रचना है और दूसरे का विषय रसास्वादन है जैसे कि एक पत्थर शालिग्राम की शिला आदि) स्वर्ण उत्पन्न करता है और दूसरा पत्थर (कसौटी) उसकी परीक्षा करता है। परन्तु कोई चाहे या न चाहे आज ऐसे लेखकों का शक्तिशाली अस्तित्व है जो सृजन नहीं समीक्षण परीक्षण करते हैं। अब यह मान लिया गया है कि 'कविः करोति काव्यं रसं जानाति पण्डितः।' अमफल कवि आलोचक बन जाता है—यह मत पहले भी मान्य नहीं था और अब भी नहीं है। जैसा कि स्काट जेम्स ने कहा है कि जहाँ तक सृजन व्यापार का सम्बन्ध है, रचनाकार प्रामाणिक साक्षी है; परन्तु कृति के बाद एक सना पाठक की भी होती है और इसी स्थान पर समीक्षक या साहित्य-अध्येता उभर कर आता है। रचना के विविध रूपों, मर्मों, निहितार्थों, छवियों और उनके चयन स्रोत के विवरणों के साथ पाठक के सामने उपस्थित करना है तथा

पाठक की कठिनाइयों को रचनाकार के सामने रखता है। वह एक प्रक
लेखक और पाठक के बीच सेतु का कार्य करता है। इस मध्यवर्ती का
करते हुये उनकी अनेक सत्तायें हो जाती हैं—साहित्य के सम्बन्ध में राज
ने मानों स्काट जेम्स के इस प्रश्न का ही हजार वर्ष पूर्व उत्तर दिया थ
समीक्षक क्या होता है—"पाठक, सराहक, स्वीकृति दाता, निर्णायक
नियामक" राजशेखर ने कहा था:—

> "स्वामी मित्रं च मन्त्री च शिष्यश्चाचार्य एव च
> कवेर्भवति हि चित्रं किं हि तद्यन्न भावकः ॥" (काव्य मीमांसा)

जेम्स ने स्वय भी अपने प्रश्न का उत्तर देते हुये उसके इन सभी
की मान्यता दी है।

इसीसे मिलती-जुलती एक बात बहुधा कह दी जाती है कि ऐतिहासि
विकास क्रम मे समीक्षा बाद को आई, समीक्ष्य (यानी कला-कृति) पहले
परन्तु यह समस्या ठीक वैसे ही है जैसे कि यह पूछा जाय कि पहले मुर्गी पैदा
थी या अण्डा। वास्तव में ये दोनों ही समानान्तर क्रियाएँ हैं। पहली कलाकृ
जब देखी या सुनी गई तब उस भावक के पास कोई न कोई धारणा अव
विद्यमान थी जिसके आधार पर उसने उसे पसन्द या नापसन्द किया होगा
यही नहीं स्काट जेम्स ने अपने ग्रन्थ 'मेकिंग आफ लिटरेचर' में प्रथम कल
कार का विश्लेषण करते हुये बताया है कि उसने अपनी कृति में समीक्षात्म
धारणा की ही अभिव्यक्ति की होगी। इसी समानान्तर अस्तित्व के कारण
हम काव्य के युगीन विकास के साथ-साथ विचारों (जिनमें काव्य शास्त्र भ
सम्मिलित है) के इतिहास को भी युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में विकसि
होता हुआ देख सकते हैं। परन्तु इन अनुभवों, प्रभावों का सचेष्ट बौद्धि
विश्लेषण और फिर उन उपलब्धियों का संयोजन एवं अध्ययन शास्त्र के रू
में कलाकृतियों के बाद सामने आता है। समीक्षा रसबोध की बौद्धिक व्याख्या
और मूल्यांकन है। इस व्याख्या एवं आकलन के लिये जिन सिद्धान्तों को
स्थापित किया जाता है (या किया जायगा) उन्हें ही हम साहित्य शास्त्र
कहते हैं। वास्तव में समीक्षा और समीक्ष्य का एक ऐतिहासिक अस्तित्व है
जो कृति एवं कृतिकार से भिन्न है। यह ऐतिहासिक अस्तित्व इस बात का
प्रमाण है कि उसकी कुछ न कुछ उपयोगिता अवश्य होनी चाहिये, अन्यथा
अध्ययन ने उसे इतने दिनों तक सहन न किया होता। हम यहाँ कहना चाहते
हैं कि साहित्यिक अध्ययन या समीक्षा शास्त्र की सर्व-प्रथम उपयोगिता
[illegible]

करना है। अतः कलाकृति का मूल्यांकन कर सकने की क्षमता पाठक में होनी चाहिये अन्यथा वह अयथार्थ, कृत्रिम, भोंडे एवं हानिकर को ही अपनी सराहना का मूल्य दे बैठेगा। समीक्षा सामान्य पाठक को वे सिद्धान्त भी देती है जिससे कि पाठक का सौन्दर्य बोध और जीवन बोध अधिक गहरा होता है तथा व्यावहारिक समीक्षा उन सिद्धान्तों को लागू करने का रास्ता ही नहीं बताती बल्कि पाठक को अच्छी और बुरी कृतियों का अन्तर निर्देश कर सकने की शक्ति भी देती है।

यों तो प्रत्येक मनुष्य में अन्तर कर सकने की एक जन्मजात प्रकृति होती है। हम शीत, उष्ण, लाल पीले के अन्तर से समीक्षण-क्रिया का प्रारम्भ करते हैं और फिर धीरे-धीरे सुन्दर-असुन्दर मधुर-कर्कश के अन्तर को स्पष्ट करते-करते उस प्रकृति का और विकास कर लेते हैं। इस प्रकार अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति पदार्थ या घटना की जाने-अनजाने समीक्षा करने लगते हैं। इसी अर्थ में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति समीक्षक होता है। दैनिक जीवन में तो अपनी अन्तर कर सकने वाली, मूल्य और उपयोगिता आँक लेने वाली इस शक्ति के बल पर सामान्य व्यक्ति यह तो जान लेता है कि यह कपड़ा अधिक टिकाऊ होगा या इस मिठाई में कौन-कौन सी कमियाँ या विशेषतायें हैं, अथवा यह लड़की क्यों अधिक सुन्दर लगती है बजाय दूसरी लड़की के। परन्तु भाव, विचार और कल्पना के क्षेत्र में मनुष्य अपनी इस प्रकृति का सचेष्ट प्रयोग नहीं कर पाता। किसी कथा या कविता को पढ़ने या नाटक-फिल्म को देखते समय सामान्य व्यक्ति उसमें इतना बह जाता है कि कुछ काल के लिये उसी के मध्य जीने लगता है (यदि मिठाई वाला दृष्टान्त लें तो कह सकते हैं कि मग्न होकर उसे वह खाता तो जाता है, पर क्यों इतनी अधिक वह सुस्वादु है, यह नहीं बता पाता।) उसके आत्म-परक अनुभव के बाद, पीछे हट कर उसे वस्तुगत ढंग से देख नहीं पाता। किसी कथा या भावचित्र के मध्य से भावात्मक रूप से गुजरना तथा उसका महत्व बौद्धिक रूप से अनुभव करना या किसी पात्र को पात्रता को दृष्टि क्षेत्र के भीतर रखना भिन्न-भिन्न क्रियायें हैं। आत्म परक अनुभूति और वस्तु परक अनुभूति सचेत पाठक के लिये उतनी ही आवश्यक हैं जितनी कृतिकार के लिये। वास्तव में कृतिकार के प्रत्येक अनुभव का मात्र भावन करना, पर उसकी परीक्षा न करना जीवन में अन्ध भाव से चलना ही नहीं है, पीछे भी लौटना है। परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि पाठक की अन्तर और परीक्षा कर सकने वाली विवेकशक्ति बहुधा भावात्मक काल्पनिक प्रसंगों में कुंठित हो जाती है। इसी स्थान पर समीक्षा-शास्त्र और समीक्षक उसकी सहायता

करते हैं, जाग्रत बोध देते हैं। किसी कृति की अच्छाई बुराई तथा स्थायित्व या क्षणिकता का निर्णय करने के लिये पाठक के लिये ये सिद्धान्त मूल्यवान और महत्वपूर्ण साधन हैं।

फिर मात्र निर्णय ही नहीं, साहित्यक-अध्ययन के ये सिद्धान्त उसके रसबोध को गहरा और व्यापक भी बनाते हैं। वास्तव में प्रत्येक कलाकृति की संयोजना अत्यन्त जटिल होती है एवं उसके विभिन्न स्तर होते हैं। सामान्य पाठक इस जटिलता एवं स्तरक्रम की एकाध स्थितियों का ही भावन कर पाता है, पर समीक्षा के ज्ञान से सम्पन्न होकर या समीक्षक द्वारा कृति का विश्लेषण पढ़ कर उसकी संयोजित जटिलता को वह अधिक गहन भाव से समझ पाता है। एक उदाहरण लें–बिहारी का दोहा है:—

घाम घरीक निवारिये कलित ललित अलि पुंज।
जमुना तीर तमाल तरु मिलित मालती कुंज॥

सामान्य पाठक इसे किसी पथिक-प्रति सहानुभूति पूर्ण वचन समझ कर रह जायगा; पर काव्य रीति से परिचित व्यक्ति इस दोहे में अभिसारिका का संदेश, अभिसार स्थल की निर्जनता और इन सबके मूल में स्थित रतिभाव का भावन करके श्रृङ्गार रस का प्रिय आस्वादन करेगा। स्पष्ट है कि दूसरे पाठक का रसबोध पहले की अपेक्षा अधिक गहन और सूक्ष्म होगा।

विश्वनाथ कविराज ने साहित्य दर्पण में काव्यशास्त्र का प्रयोजन वही माना है जो काव्य का—यानी पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति।

"अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्य फलैरेव फलवत्वमिति काव्य फलान्याह।"

(यह अन्य शास्त्रों का अंग है और इसके भी वे ही प्रयोजन हैं जो शास्त्र के हुआ करते हैं।) फिर काव्य का प्रयोजन बताते हुये वे कहते हैं "काव्य के द्वारा अल्प बुद्धि मानव को बिना किसी साधना के (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप) पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है। "चतुर्वर्ग फल प्राप्तिः सुखादल्प धियामपि" इस कथन के द्वारा पाठक के लिये काव्य-प्रयोजन स्पष्ट किया गया तथा शास्त्र के प्रयोजनों के अनुरूप काव्यशास्त्र के प्रयोजन बताने से यह सिद्ध होता है कि काव्यशास्त्र अल्पबुद्धि वाले (सामान्य पाठक) को चतुर्वर्ग फल प्राप्ति कराने वाला होता है। आज हम चतुर्वर्ग पर उतना विश्वास न भी करें तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि उसके द्वारा पाठक जीवन के अधिक निकट पहुंचते और उसे समझने में आते हैं। क्योंकि यदि जीवन की आलोचना है तो वह आलोचना द्वारा इस जीवन को अधिक

समीक्षा की उपयोगिता कवि के लिये भी है। कवि के सामने सृजन-काल में दो मुख्य समस्यायें रहती हैं। प्रथम तो अभिव्यंजना की समस्या और दूसरे अनुभूति की मूल्यपरक चिन्ता। समीक्षा इन दोनों में उसे सहायता पहुँचावेगी। समीक्षाशास्त्र द्वारा काव्य, काव्य की प्रक्रियाओं, उपमानों के औचित्य एवं शक्ति आदि का विवेचन होता रहता है। आलोचक यह बताता है कि किसी कवि की कोई उक्ति क्यों अधिक मार्मिक और प्रभावकर है अपेक्षाकृत किसी दूसरी उक्ति के। साहित्य के आन्तरिक अध्ययन (Intrinsic Study) में अभिव्यंजना-रीति की चर्चा अनिवार्य होती है। रचनाकार इन पद्धतियों के अध्ययन से अपनी अभिव्यक्ति को उपयुक्त आकार देने में समर्थ होता है। कला-सृजन एक अचेतन-चेतन क्रिया है-प्रेरणा किसी अचेतन अविश्लेषित स्रोत से आती है; फिर उस प्रेरणा को रूपाकार देते समय लेखक सचेत एवं सजग हो उठता है। वह उसके लिये सबसे अधिक उपयुक्त शब्द एवं रीति का चयन कर सकता है। यदि प्राचीन लेखकों की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हों तो उनसे ज्ञात हो सकता है कि कभी-कभी लेखकों ने एक पद में बीसों बार परिवर्तन किया है। यूरोप में इस प्रकार के अध्ययन बहुत हुये हैं। संस्कृत-साहित्यशास्त्र में शब्दपाक या वाक्य पाक (वामन, राजशेखर आदि) की चर्चा आई है। शब्द पाक का अर्थ यह बताया गया है कि जहाँ भाव के सर्वाधिक उपयुक्त शब्द का प्रयोग होता है वहाँ शब्द पाक होता है उसमें फिर परिवर्तन वांछनीय नहीं होता। बिहारी के दोहों से एक भी शब्द बदल देने या हटा देने से अर्थ की कमनीयता में व्याघात उपस्थित हो जाता है। जयशंकरप्रसाद की पंक्तियों—

> कुसुम कानन अंचल में मंद, पवन प्रेरित सौरभ साकार,
>
> रचित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।

में आप पर्यायवाची शब्द रख कर देखें और पावेंगे कि सारा अभिव्यक्ति-सौंदर्य समाप्त हो गया। पन्त जी ने पल्लव की भूमिका में शब्दों की इस उपयुक्तता (शब्द पाक) पर सूक्ष्म विचार किया है।

जहाँ तक कथन के मूल्यवान होने का सम्बन्ध है यदि लेखक को मूल्यों को समीक्षित करना है तो वह अपने कथन के वजन को निरख सकता है और अभिव्यक्ति को रोक या प्रकाशित कर सकता है। जहाँ लेखक को प्रारम्भ में यह चेतना नहीं भी है वहाँ समीक्षक के विमर्श और विश्लेषण द्वारा उसे इन मूल्यों की चरपरिचि हो सकती है तथा अपनी अन्य कृतियों में वह वैचारिक और भावात्मक दोनों दृष्टियों से अधिक मूल्यवान बन सकता है। यह कहना कठिन है कि स्वच्छ आलोचकों के अभाव में संसार के तमाम रचनाकारों के काव्य का विकास किस दिशा में हुआ होता ?

इसके अतिरिक्त साहित्यिक अध्ययन या समीक्षा की तीसरी
विशुद्ध ज्ञान की दृष्टि से भी है। सभ्य और सुसंस्कृत व्यक्ति के लिये
छोटा कण भी उपयोगी एव आवश्यक होता है। मानवता ने अप
के दौरान में ज्ञान को एक विशिष्ट मूल्य दे रखा है। इसी कारण अप
गौण रूप में भी ज्ञान का अपना अधिकार और दाय होता है। समी
द्वारा हम रचना की प्रक्रिया, निबन्धन एव व्यवस्था तथा अर्थ के विवि
का ही ज्ञान नही प्राप्त करते, बल्कि मानसिक पृष्ठभूमि का वैज्ञानिक
एक विशिष्ट सामाजिक, ऐतिहासिक सदर्भ मे रचना की सयोजना
कारण सम्बन्ध, सास्कृतिक जीवन की झलक एव दार्शनिक-धार्मिक
का विवरण भी प्राप्त करते है। ये सभी बातें उसी प्रकार ज्ञान-खण्ड
इतिहास, समाजशास्त्र, या अर्थशास्त्र। साहित्यिक समीक्षण द्वारा
ज्ञान न तो ज्ञान की अन्य शाखाओ से श्रेष्ठ होता है और न निकृष्ट।

इतना हम अन्त मे कह देना उचित समझते है कि साहित्य
ज्ञान का श्रेष्ठतम उपयोग एव महत्तम मूल्य वही है जहा वह आस्वा
रसबोध के अवधारण, विवेक एव सराहन मे सहायता करता है; तथा उ
ग्रहण अनुचित का त्याग, खरे का स्वागत और खोटे का तिरस्कार मह
स्वीकृति और क्षुद्र की उपेक्षा उसके द्वारा सभव बनती है। समीक्षा
उसके शास्त्र की यही उपादेयता है। और इसके लिये आलोचना कला
की परीक्षा युग, व्यक्ति, टेकनीक और माध्यम की दृष्टि से करती है।

आलोचना की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाला एक बड़ा
अभी अनुत्तरित रह गया है। पूर्व और पश्चिम दोनो मे ही साहित्य-
या साहित्यिक अध्ययन की बड़ी पुरानी परम्परा है। २५०० वर्षों
अधिक इस लम्बे काल में नाना प्रकार के मत और सम्प्रदाय साहि
अध्ययन के क्षेत्र मे विकसित हुये। प्रत्येक अपने को ही प्रमाण-वाक्य
करता है। एक ही लेखक के बारे मे परस्पर इतनी विरुद्ध सम्मतियां
को मिलती हैं कि साहित्यिक आलोचना की उपयोगिता पर भयंकर स
होने लगता है। आई० ए० रिचर्ड्स ने कुछ ऐसी ही स्थितियो से घ
कर खेद पूर्वक कहा था कि काव्यालोचन के सिद्धान्त निर्माण मे उतनी
सावधानी और गम्भीरता नही बरती गयी जितनी कि पोलशेपिंग
(साधारण) खेलों के लिये नियम बनाते समय। मैं समझता हूँ कि गम्भी
कम नही बरती गयी; परन्तु बदलती अभिरुचि, बदलते युग और साहित्य
विकसमान "क्षणे क्षणे नवता" प्राप्त करने वाले स्वरूप के कारण एक स

प्रत्येक युग के साहित्य-अध्येताओं ने अपने-अपने ढंग से मूल्यांकन की प्राप्त कसौटियों में परिवर्तन, परिवर्द्धन और सशोधन किये है। प्रत्येक युग ने अपनी जागतिक तस्वीर (World-Picture) तथा जीवन दृष्टि के अनुरूप अपना मानदण्ड बनाया है और उसी के अनुरूप कुछ लेखक किसी युग में अधिक प्रिय हो जाते हैं, कुछ उपेक्षित। परन्तु यही एक समस्या आ खड़ी होती है कि कुछ लेखक (यथा वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी या शेक्सपियर) सभी युगों में समादृत रहते हैं। प्रत्येक युग इन्हें अपने मानदण्ड के चौखटों में बैठा लेने का प्रयास करता है। कभी-कभी इनके लिये चौखटे के आकार-प्रकार में कुछ परिवर्तन भी कर लिया जाता है; परन्तु इसमे इन सैद्धान्तिक चौखटों की उपयोगिता पर सन्देह न करके यह स्वीकार करना अधिक सत्य होगा कि महनीय कृतियों की संयोजना एवं अन्वयन अत्यन्त जटिल होता है, एक नहीं अनेक स्तर होते हैं एवं प्रत्येक युग का समीक्षा-शास्त्र इनमे से कुछ स्तरों के भेद तथा जटिलता के किसी न किसी अंश को उघाड़ने में समर्थ होता है। जितने अंश तक वह कलाकृति से सम्पृक्ति प्राप्त करके उसकी सम्भावनाओं, पक्षों और अंशों को स्पष्ट करती है, उतनी ही वह लाभदायक है; और यह बात आलोचक की शिक्षा-दीक्षा, जीवन के दीर्घ व्यापी गम्भीर अनुभव की सार्थकता पर निर्भर रहती है। वास्तव मे न साहित्य स्थिर है न साहित्य-शास्त्र। इसीलिये साहित्य शास्त्र या समीक्षा के आगे प्रश्न-चिन्ह लगाना उचित नहीं है। यद्यपि यह भी सही है कि आलोचना-सिद्धान्त पर अनिर्भर रह कर भी रचना का आस्वादन हो सकता है। परन्तु यह भी सही है कि आलोचना सिद्धान्तो के प्रयोग और विकास द्वारा रचना के अभिशंसन (Appreciation) को स्पष्ट केन्द्रित और विवर्द्धित किया जा सकता है।

वास्तव में आलोचना के विविध मत-मतान्तरों से घबड़ा कर भागने या किसी एक ही मत को परम सत्य मान कर बैठ जाने की अपेक्षा आवश्यकता इस बात की है कि विभिन्न समीक्षा-दृष्टियों को एकसार किया जाय तथा उन्हें एक समग्रता के भीतर पिरोया जाय। इस अन्वयन और एकसारीकरण में ही दृष्टि की वह पूर्णता निहित है जो कृति के अधिक से अधिक रसबोध को उपलब्ध करा सकेगी।

साहित्यिक अध्ययन की प्रकृति

साहित्यिक अध्ययन की उपयोगिता को स्वीकार कर लेने के बाद यह प्रश्न और अधिक महत्वपूर्ण बन कर सामने आता है कि इस अध्ययन का स्वरूप या प्रकृति क्या हो ? साहित्य और साहित्यिक अध्ययन एक ही नहीं हैं—एक कला रूप है और दूसरा विज्ञान भी नहीं, पर अध्ययन का एक प्रकार अवश्य है। सृजनानुभव उसमें सहायक हो सकता है, पर अध्येता का कार्य बिलकुल दूसरा है। उसे अपने साहित्याध्ययन के अनुभव को बौद्धिक शब्दावली में रखना तथा एक सुसंगत व्यवस्था में पिरोना होता है। क्योंकि बिना एक सुसम्बद्ध व्यवस्थापन के किसी भी तथ्य-भण्डार या विवेचना को ज्ञान की कोटि में नहीं रखा जा सकता। यद्यपि यह सत्य है कि समीक्षक की विषय वस्तु या उसका कच्चा माल अत्यन्त अतार्किक, भावात्मक एवं मनो-न्द्रियग्राह्य पदार्थ होता है, परन्तु संगति एवं सुसम्बद्धता का उतना ही बड़ा अनुशासन एवं बुद्धि परकता तथा तार्किकता का उतना ही गहरा आग्रह उसके लिये आवश्यक है जितना कि इतिहासज्ञ, समाज शास्त्री या मनोविज्ञानवेत्ता को स्वीकार करना पड़ता है।

इसी अनुशासन से बचने के लिये कतिपय समीक्षकों ने रचना की समीक्षा को भी एक प्रकार की रचना या द्वितीय सृजन कहा है। उनके अनुसार साहित्य अध्ययन नहीं आस्वादन की वस्तु है और हम अपने आस्वादन-जन्य प्रभावों को ही व्यक्त करें, क्योंकि शेष बातें साहित्य सम्बन्धी सूचनाएँ मात्र हो सकती हैं। इस प्रकार साहित्यिक विद्वत्ता एवं साहित्यिक सहृदयता और आस्वादन में अन्तर उपस्थित करने का प्रयास किया जाता है। यहीं पर याद रखना आवश्यक है कि यह द्वितीय सृजन सदैव हीन कोटि का एवं अनुकरण मात्र होगा—अतः इसे कोई बहुमान देने की आवश्यकता ही नहीं उठती। दूसरे जैसा कि उपर्युल्लिखित ढंग से स्पष्ट किया जा चुका है रचना के प्रत्येक स्तर एवं जटिल सर्वांगपूर्ण होती है। अनुभूति-[illegible] इन स्तरों एवं जटिलताओं को समझने में [illegible] देता है। [illegible] दृष्टि को नहीं [illegible] है। यहाँ तक कलाकृति के [illegible] का प्रश्न है [illegible] उसका विवेचन बहुत [illegible] न होगा।

बहरहाल समस्या अभी अनुत्तरित है कि साहित्य-कला का अध्ययन किस प्रकार किया जाय ? कुछ लोगों ने विज्ञान की प्रविधि(Methodology) उसपर घटानी चाही है। इसके अनेक प्रयास किये गये। विकासमूलक जैविक मतों को लागू करने का प्रयत्न हुआ, उसे काव्यपुरुष के रूपक द्वारा समझाने की चेष्टा हुई। आर्थिक, राजनैतिक सिद्धान्तों के अनुरूप व्याख्यायित करने की चेष्टा भी कम नहीं हुई (या कम नहीं हो रही है)। कभी आँकड़े और चार्टों का संयोजन एवं प्रयोग हुआ तो कभी नितान्त वस्तु-परक अध्ययन पर बल दिया गया। परन्तु ये सदैव सफल नहीं सिद्ध हुये और कभी-कभी रिचर्ड्स जैसे समीक्षक को इनकी भविष्यत् सम्भावनाओं पर ही सन्तोष कर लेना पड़ा है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, इतिहास, जीव शास्त्र या अर्थशास्त्र आदि का प्रयोग साहित्य में नितान्त वर्जित है। एक बड़ा क्षेत्र है जिसमें इनका प्रवेश शुभ ही नहीं आवश्यक या कभी-कभी अन्योन्याश्रित हो जाता है परन्तु इन्हें साधन के रूप में एक सीमा तक ही स्वीकार करना उचित है। इसके अतिरिक्त इनकी आगमन-निगमन परक विवेचना शैली, विश्लेषण समन्वय तथा तुलना ढंग भी साहित्यिक अध्ययन में स्वीकरणीय है। फिर भी साहित्यिक अध्ययन के अपने नियम और ढंग भी हैं जो विज्ञान के न होते हुये भी बौद्धिक होते हैं। वास्तव में मानव विद्याओं (Humanities) तथा भौतिक-सामाजिक (Physical & Social) विज्ञानों में अन्तर होता है।

पर इस अन्तर को स्पष्ट कैसे किया जाय ? विलहेम डिल्थी ने यह अन्तर व्याख्या एवं बोध (Explanation and Comprehension) का बताया है। मानो की एक (वैज्ञानिक) कार्यकारण सम्बन्धों की व्याख्या करना चाहता है और जबकि दूसरा (इतिहास और कला का अध्येता) घटना को पूरे परिदृश्य में समझना चाहता है एवं उसके वास्तविक अर्थ का बोध प्राप्त करना चाहता है। बोध की यह प्रक्रिया आत्मपरक एवं वैयक्तिक होती है। विण्डेल बैण्ड ने विज्ञान की अध्ययन प्रणाली को "सामान्य नियम" ढूंढने वाली कहा है तथा इतिहास को विशिष्ट या फिर-फिर घटित होने वाले तथ्यों को पकड़ने वाला माना है। एक अन्य विद्वान ने कला, इतिहास आदि को संस्कृति का विज्ञान कहा है तथा अन्य को प्रकृति का विज्ञान माना है। संस्कृति सम्बन्धी विज्ञान व्यक्ति का अध्ययन करता है—एवं व्यक्ति का अध्ययन किसी न किसी मूल्य संदर्भ में होता है। इसीलिये इसे सांस्कृतिक प्रक्रिया कहा गया है। एक अन्य विद्वान ने विज्ञान को दोहराये जाने वाले तथ्य (Facts

of Repetition.) तथा इतिहास को नैरन्तर्य वाले तथ्य (Facts of succession) कहा है।

हम इसके विस्तृत विवेचन में न जाकर मात्र इतना ही कहेंगे कि इनमें से किसी भी मत को आत्यन्तिक सत्य के रूप मे नहीं स्वीकार किया जा सकता। इन्होंने सत्य को किसी न किसी कोण से पकड़ने का प्रयास अवश्य किया है। यदि हम मात्र सैद्धान्तिक ऊहापोह में न जाकर केवल ठोस सवाल पूछें तो समस्या अधिक स्पष्ट हो सकेगी। हम तुलसी या कालिदास को क्यों पढ़ते हैं? क्या उनकी देशगत, कालगत या धर्मसाधना आदि को समझने के लिये? शायद नहीं। 'तुलसी एवं कालिदास' को क्या तुलसी और कालिदास बनाता है? स्पष्ट है कि यह वैयक्तिक एवं मूल्य परक समस्या है। जब हम भक्तिकाल या छायावाद का अध्ययन करते हैं तब भी इन युगों की अलग-अलग उन विशिष्टताओं या व्यक्तित्व का अध्ययन करते हैं जो उन्हें अन्य युगों से पृथक करते हैं परन्तु इस पृथक्करण एवं अध्ययन के लिये किसी एक अनिसरलीकृत सामान्य नियम की स्थापना कठिन है। इतिहास का परिप्रेक्ष्य एक मात्र सामान्य तत्व है, जो हमें इस कार्य मे सहायता दे सकता है; परन्तु यह भी आत्यन्तिक रूप से नहीं, साध्य भी नहीं। यों कुछ लोग क्रिया-प्रतिक्रिया अथवा परम्परा-विद्रोह के नियम की संस्थापना बड़ी सुविधा से करके निश्चिन्त हो लेते हैं (जैसे कि 'द्विवेदी युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया छायावाद में' और 'छायावाद मे स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' या 'प्रगतिवाद में छायावाद की प्रतिक्रिया' आदि)। परन्तु वास्तव मे ये नियम साहित्यिक प्रक्रिया के बारे में निश्चित कथन नहीं है। हम आज इन नियमों के आधार पर यह नहीं कह सकते कि १५ वर्ष बाद साहित्य का स्वरूप क्रिया प्रतिक्रिया के फलस्वरूप क्या होगा? वास्तव में इन्हें किसी प्रकार का नियम मानने में ही संकोच का अनुभव होता है।

ऊपर विविध विद्वानों के विज्ञान तथा इतिहास के अन्तर बताने वाले

तो एक कूड़े का ढेर दूसरे कूड़े के ढेर से अलग और विशिष्ट होता है। दोनों ढेरों का आकार, रासायनिक तत्व आदि अद्वितीय होते है अत विशिष्टता को बहुत खीचना उचित नही, फिर कृतियों के माध्यम 'शब्द' विशिष्ट न होकर सामान्य होते हैं। वास्तव मे कृति एक साथ विशिष्ट और सामान्य होती है जैसे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप मे विशिष्ट भी होता है तथा अपने देश जाति सेक्स पेशे आदि मे सामान्य भी। वैलेक एव वारेन के ये शब्द इस प्रसंग में अत्यन्त सार्थक हैं, कि साहित्यिक समीक्षा एवं साहित्यिक इतिहास दोनों ही किसी कृति, किसी लेखक, किसी युग या राष्ट्रीय साहित्य के विशिष्ट वैयक्तिक चरित्र को आंकने का प्रयास करते हैं। परन्तु यह चरित्रांकन एक साहित्यिक सिद्धान्त के आधार पर सार्वजनिक शब्दावली मे ही पूरा किया जा सकता है। परन्तु इस आदर्श के द्वारा सहानुभूतिपूर्ण ग्रहण एव रसास्वादन का महत्व कम नहीं हो जाता। ये तो साहित्यिक अध्ययन की प्रारम्भिक शर्तें है। ध्यान रहे कि इस अध्ययन से केवल पठन कला को ही सहायता नहीं मिलती, उसके अपने सगठित ज्ञान का अलग से भी महत्व है। पठनकला (art of reading) एक वैयक्तिक संस्कार है और इसी रूप मे वह समाज मे साहित्यिक संस्कार को प्रसरित होने मे सहायता भी देता है, लेकिन ये संस्कार साहित्य शास्त्र (सिद्धान्त) का स्थान नही ग्रहण कर सकते। मैं समझता हूं कि डैविड डैचेज का यह आग्रह बहुत उचित नही है कि आलोचक को सदैव अपने सिद्धान्त और व्यवहार मे सुबोध ही रहना चाहिये। जहां तक सामान्य पाठक का सम्बन्ध है यह धारणा ठीक है; परन्तु कभी-कभी अपने अध्ययन के समुचित सगठन मे अपनी विशिष्ट एवं सार्वभौम पद्धतियो के समन्वय द्वारा समीक्षक ऐसी शब्दावली का प्रयोग भी कर सकता है जो विशेषज्ञ ही समझ सके। परन्तु यह विशेषज्ञ सापेक्ष ज्ञानराशि न तो उपेक्षणीय है और न कम महत्वपूर्ण। साहित्यिक सिद्धान्तों (काव्यशास्त्र) का निर्माण इसीलिये आवश्यक होता है।

रचना और आलोचना

रचना और आलोचना का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है अथवा क्या हो—यह एक पुराना सवाल है। इसे भिन्न-भिन्न शब्दों में अनेक बार दुहराया गया है। सच पूछो तो इसके मूल में भी समीक्षा की उपयोगिता सम्बन्धी प्रश्न छिपा हुआ है। मैं कहना चाहूंगा कि समीक्षा कृति एवं कृतिकार के लिए उपयोगी है, समान्य पाठक के लिए उपयोगी है, एवं ज्ञान की एक विशिष्ट शाखा के रूप में अपने आप मे भी उपयोगी है; उसकी इस रूप मे अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है। परन्तु इन सभी उपयोगिताओं के मूल मे आधारभूत या उपजीव्य सामग्री वह रचना विशेष ही होती है। वह रचना की जटिल संकुलता एवं अर्थ-स्तरों को स्पष्ट करके पाठकों को रचना का जो जीवन्त बोध देकर ज्ञान के एक आयाम का विस्तार करती है—यही उसकी चरम सार्थकता है। इस सार्थकता के मूल में रचना और आलोचना की गहरी सम्पृक्ति स्पष्ट है। चाहे सिद्धान्त का निर्माण हो, चाहे इन स्थापित मापदण्डों के व्यवहार का प्रश्न हो, रचनाओं का अद्यावधि और नजदीकी ज्ञान आवश्यक होता है। रचना के सभी पक्षों एवं स्तरों पर इस सम्पृक्ति की विद्यमानता काम्य है।

काव्य की सृजन-प्रक्रिया अनेकमुखी होती है। कवि एक साथ ही काल के एक ही मुहूर्त में रचना की प्रेरणा एवं भाव सूत्र का ग्रहण करता, विचार के अंकुश से काटता छाटता, कल्पना के माध्यम से आवश्यक बिम्ब विधान की आयोजना करता तथा भाषा के स्थापित स्टैण्डर्ड रूप के निकट अपनी अभिव्यक्ति को लाकर पूरी रचना को सम्प्रेषणीय बनाने का प्रयास करता है। समीक्षक को भी रचना की विविक्ति के समय इस अनेकमुखता के साथ विविध स्तरों पर द्रुत-गति से संचरण करना पड़ेगा—दोनों के मध्य गहन सम्पृक्ति के लिए। यदि केवल बिम्बों की मोहकता का ही वह ध्यान रखे या मात्र भाषा की विशिष्टताओं का ही अनुशीलन करे अथवा केवल विचारों या दृष्टिकोण की ही विवेचना समीक्षक करे तो रचना पूर्ण रूप से उजागर न हो सकेगी। इस एकांगी समीक्षण मे कभी उसका कोई पक्ष उभर आवेगा और कभी कोई। हिन्दी में हम सम्प्रति ऐसी एकांगी समीक्षाओं के प्रभूत मात्रा में दर्शन कर सकते हैं। अलंकार पर थीसिस लिखी जायगी, छंद योजना अनुसंधान का विषय बनेगी, भक्ति सिद्धान्त विवेच्य होंगे—अलग-अलग व्यक्तियों

द्वारा भिन्न-भिन्न पुस्तकों में भी और एक ही व्यक्ति की एक ही लेखक पर लिखी गयी पुस्तक में भी इनके लिए भिन्न-भिन्न अध्याय निर्धारित होंगे। अनुसंधान के लिए लिखी जाने वाली किसी पुस्तक को उठा लीजिए पहला अध्याय–पृष्ठभूमि, दूसरा अध्याय–जीवनी, तीसरा अध्याय–रचनाएं, चौथा अध्याय–काव्य सौन्दर्य : इसके अलंकार, छन्द, रस आदि अनेक उपविभाग पाचवा अध्याय–भाषा, छठा अध्याय–जीवन दर्शन एवं सातवां अध्याय–उपसंहार तथा निष्कर्ष का मिलेगा। स्पष्ट है कि ऐसे अध्ययनों में रचना के समकालिक वैविध्य को ग्रहण नहीं किया जाता और रचना तथा आलोचना के मध्य जो भी सम्पृक्ति होनी चाहिए, वह खंडित होजाती है। मनुष्य का स्नायविक संगठन कैसे काम कर रहा है, उसका सघन आत्मसातीकरण कवि पहले करता है एवं अपनी सृजन-प्रक्रिया के दौरान में इस स्नायविक प्रतिक्रिया के लय या सांचे को पकड़ने का प्रयास करता है, अथवा यों कहें कि अनुभूति विशेष या विविध अनुभूतियों के लिए वह एक सांचा [पैटर्न] खोजता है और जब एक बार यह सांचा पकड़ में आ जाता है तब वह उससे बाहर की ओर भी यदा कदा सचरण करके भीतर की ओर लौटता है। अर्थात् लिखता भीतर से है और उसमें संशोधन और परिष्कार बाहर से करता है। समीक्षक बाहर की ओर से प्रभाव ग्रहण करता है एवं भीतर की ओर से महत्व का आकलन करता है। पर यह होता एक ही समय और साथ-साथ है।

रचनाकार के लिए वातावरण का बोध अत्यधिक आवश्यक है। एक प्रकार से वह वातावरण की भाषा बोलता है—यह भाषा समझ में आने वाली रूप और लय की होती है। इसे हम उसी प्रकार से समझें जैसे कि एक विशेषज्ञ के अपने क्षेत्र के वातावरण को सहज–[अभ्यास के कारण प्रवृत्तिमूलक] भाव से पहचान कर उसकी अभिव्यक्ति उस वातावरण की भाषा में करता है। कवि में काव्य के वातावरण की विशेषज्ञ जैसी ही पहचान होती है। वह उसके विविध तत्वों को सोद्देश्य ढंग से संयोजित करता है और सफलता का आदर्श है कि कृति में ऐसा कुछ न हो जो उसमें किसी न किसी विशिष्टता की स्थापना न करता हो। जो उसकी सफलता के लिए अनुपयोगी हो, उसे चेखोव के शब्दों में निर्मम भाव से फेंक देना चाहिए। जहां रचनाकार इस निर्ममता को नहीं अपना पाता, वहाँ समीक्षक निर्ममता पूर्वक उसकी ओर संकेत करता है। अस्तु कभी-कभी तो एक ही तत्व, घटना, परिस्थिति या पात्र दुहरा, तिहरा कार्य करता है। ऐसा भी होता है कि एक सफल रचना में लेखक सदैव नये निष्कर्ष या निर्देश करता चलता है और हर नया निष्कर्ष एक नयी सम्भावना का द्वार उन्मुक्त करता है। इसके अतिरिक्त कोई भी तत्व अपने

भाव में स्वतंत्र एवं पूर्ण न होकर अन्य तत्वों के सन्दर्भ में ही अर्थवान बनता है तथा इन विविध तत्वों की अन्योन्य क्रीड़ा ही वस्तुओं को ध्वनित करती रहती है। इस क्रीड़ा में उन्हें वह छोड़ देना है जो उसके समग्र प्रभाव के लिए उपयोगी नहीं प्रतीत होते। उसके भीतर वातावरण अनिवार्यता आदि का बोध ही आवश्यक नहीं, बल्कि सगठनाकार का भी ऐसा बोध (Sense of Structure) आवश्यक है जिसमें यह सारी बातें ढल सकें और प्रवेश, विकास एवं चरम सीमा भी स्पष्ट रहे।

नाटक और कथा साहित्य में यह कार्य घटनाओं एवं पात्रों के माध्यम से होता है, तथा कविता में बिम्बों या रूपकों द्वारा। कविता को ही लीजिए—अपने सारे निर्माण के दौरान में वह व्यंजनाओं के अनेक शरों का सन्धान करती है—एक बिम्ब के निहितार्थ प्रथम पंक्ति में, तीसरी पंक्ति में दूसरी को पार कर आती हुई एक आवाज़, चौथी पंक्ति में एक व्यंग्यात्मक संकेत, आठवीं पंक्ति में ऊपर की पंक्तियों में ध्वनित सारे वातावरण की प्रतिक्रिया आदि विविध शर हमें एक ही कविता में उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, अनायास ही फिर ये सारे सधानित शर एक ही लक्ष्य को एक ही समय में बेधते हैं। आते ये भिन्न-भिन्न दिशाओं से हैं परन्तु लक्ष्य का केन्द्र एवं बेधने का समय एक ही क्षण और बिन्दु होता है। काव्य की यही समग्रता होती है।

विस्तार से इस सृजन प्रक्रिया को देने का तात्पर्य है कि काव्य रचना की जटिलता और विशिष्टता का परिचय देकर समीक्षक के उत्तरदायित्व की गुरुता को संकेतित कर उसके द्वारा अपनाने योग्य प्रणाली को भी समझने की चेष्टा की जाय। ऊपर के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि ये विविध तत्व

चाहिये। पर इस मूल्यांकन के पूर्व रचना जो कह रही है और जो है उसको जानने के लिये उसकी समग्रता का समीक्षी अध्ययन आवश्यक है।

बहुधा कृति की अनेकमुखता एवं स्तर की विविधता के कारण समीक्षकों का ध्यान कृति की अपेक्षा अन्य बाह्य विशिष्टताओं की ओर आकर्षित हो जाता है। ऐसी स्थिति में कृति मात्र साधन बनकर रह जाती है। जब ऐसा नहीं भी होता, तब भी अध्येता बहुधा उसे भाव पक्ष और कला पक्ष (या विषय वस्तु और रूप विधान) के कृत्रिम ढंग से विभाजित कर देता है। यह द्वैत विभाजन हमें आचार्य शुक्ल में तो मिलता ही है आगरा शैली के आलोचक महारथियों, प्राध्यापकों एवं अनुसंधायकों ने इस विभाजन को हास्यास्पद सीमा तक हमारे साहित्य में पहुँचा दिया है। साधारणतः विषय वस्तु से हमारा तात्पर्य भावों एवं विचारों से होता है एवं उन समस्त शाब्दिक विशेषताओं को 'रूप विधान' के नाम से समझा जाता है जो उन भावों और विचारों को सम्प्रेषित करती हैं। परन्तु ध्यान पूर्वक देखने पर ज्ञात होगा कि विषय वस्तु में रूप के तत्व भी निहित रहते हैं। एक उपन्यास या नाटक की घटनाएँ विषय वस्तु के अन्तर्गत लिनी जाती हैं, परन्तु कथानक में उनका क्रम 'रूप विधान' का अंग बन जाता है और इस क्रम से विच्छिन्न हो जाने पर उनका कलागत प्रभाव भी नष्ट हो जाता है। ऐसे ही रूप विधान के [illegible] में शब्द स्वतन्त्र रूप से कलात्मक प्रभाव के प्रति उदासीन रहते हैं, परन्तु एक सन्दर्भ विशेष में संयोजन ऐसा हो जाता है कि उनकी ध्वनि और अर्थ की व्याख्या विशेष अर्थों (भाव पक्ष) में भास्वर हो उठती है। वास्तव में यदि विभाजन किसी सुविधा के लिये करना ही है तो उपादान और संघटनाकार (Material & Structure) का होना चाहिए जैसा कि वेलेक और वारेन ने सुझाया है। उपादान के अन्दर सौन्दर्यनिरपेक्ष भाव पक्ष और रूप पक्ष के वे सारे तत्व आ जाते हैं जो स्वतन्त्र रूप से कलात्मक प्रभाव से हीन होते हैं एवं संघटनाकार के अन्तर्गत इन्हीं तत्वों का सौन्दर्यनिष्ठ संगठन आवेगा जो कि कलात्मक आनन्द की सृष्टि करता है। समीक्षा करते समय इस तत्व-संयोजन एवं कृति के कार्य (Function) से आरम्भ करना अधिक समीचीन होगा। कौन से तत्वों की योजना यह [illegible] अधिक आवश्यक है कि वह और किस रूप में वे उपादान सम्बद्ध किये गये हैं जिससे कि वह [illegible] रचना एक कलाकृति बन सकी है। परन्तु यहीं यह कह देना आवश्यक है कि जब हम रचना पर केन्द्रित होने के लिए कहते हैं तो 'शुद्ध कलावादियों' की बात नहीं दुहरा रहे हैं। हम कहना चाहते हैं कि किसी कलाकृति के विवेचन का [illegible] कोई [illegible] नहीं [illegible] — [illegible] कि यह रचना के

उसका उपजीव्य 'उपादान' बन कर आवे, उसी प्रकार से जैसे घटनाएँ, पात्र या वातावरण आते हैं। इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना चाहिये कि नितान्त तथाकथित 'शुद्ध' कवितायें या उपन्यास भी प्रबुद्ध ढंग से पढ़े जाकर किसी न किसी अभिप्राय से सम्बन्धित किये जा सकते हैं। इस प्रकार विशुद्धता पर अत्यधिक बल देने की आवश्यकता नहीं—हां प्रत्यक्ष प्रचार या सूचनावाही अभिप्रायों से बचने की आवश्यकता अवश्य होती है।

अस्तु, इस संगठनाकार के विश्लेषण में अनेक ऐसे प्रश्न उठते हैं कि काव्य क्या है ? उसका अस्तित्व कहां है ? संगठनाकार की समग्रता का तात्पर्य क्या है एवं उसे कैसे विश्लेषित किया जा सकता है ?

यह तो जाहिर है कि सफेद कागज पर रंगीन निशान बनाना (यानी कि लिखना) कविता नहीं है–यह बात दूसरी है कि लिखने एवं छपने की विधियों ने उसके रूप को कुछ न कुछ प्रभावित अवश्य किया है। कुछ लोग उसे पाठकों के पठन में मानते हैं, पर पढ़ने वाला अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ता घटाता रहता है, अतः वास्तविक कविता को काव्य-पठन नहीं माना जा सकता। कुछ उसे वर्णों या ध्वनियों में सीमित कर देना चाहेंगे, पर हमारा विचार है कि "वर्ण योजना" साहित्य का एक तत्व है, उसी में काव्य का अन्यतम अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता, अन्यथा काव्य, चित्र काव्य, प्रहेलिका, बिन्दुमती या अक्षर-च्युतक के खिलवाड़ के स्तर पर पहुँच जायगा। इसी प्रकार उसे पाठक या सामाजिक अनुभूति के हाथों सौंप देना भी अराजकता को प्रश्रय देना है। प्रत्येक प्रमाता के संस्कार, शिक्षा, रुचियाँ इतनी भिन्न होती हैं कि उन्हें किसी प्रकार का प्रमापक नहीं माना जा सकता। वास्तव में पाठक के मनोविज्ञान का अध्ययन शैक्षिक योजनाओं के लिये चाहे कितना ही उपयोगी क्यों न हो, पर साहित्यिक अध्ययन की सीमाओं के वह बाहर ही रहेगा। हर मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का परिणाम अराजकता, संशय एवं मूल्य सम्बन्धी भ्रम है, क्योंकि यह काव्य के सम्पूर्ण सांचे एवं गुणों से असम्पृक्त है।

इस मनोवैज्ञानिक अध्ययन सिद्धांत का ही एक रूप है, जब उसे लेखक की अनुभूति के साथ एकात्म कर दिया जाता है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि रचनाकाल में कोई कृति कर्ता का अनुभव ही है, पर रच जाने के बाद उसका एक स्वतन्त्र अस्तित्व हो जाता है और उस समय स्वयं रचनाकार एक विशिष्ट पाठक मात्र बन जाता है। बहरहाल इस अनुभव का अध्ययन करते हुए पण्डितों ने उसे लेखक का सचेत अनुभव या अभिप्राय समझा है और उसी के सन्दर्भ में रचना को पढ़ना चाहा है। पर वास्तव में उस रचित कृति को छोड़ कर हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं होता जिसके

आधार पर उस संकेत अनुभव या अभिप्राय को हम प्रमाणिक रूप से जान सकें। उसके पत्र, डायरियां आदि भी लेखक के तोड़े मरोड़े या रेशनलाइज्ड विचार हो सकते हैं, अथवा सृजन के दौरान में उनका रूप परिवर्तित होगया होगा, जैसा कि रचना प्रक्रिया की चर्चा करते हुए हमने संकेत किया है। वास्तव में कृति लेखक द्वारा पाठकों को दिया गया कोई संदेश विशेष न होकर एक स्वतंत्र सत्ता है जिसकी सापेक्षता एक सीमा तक ही होती है। पर कृति और कृतिकार के मध्य किसी सम्बन्ध के आत्यन्तिक अभाव को हम प्रतिपादित नहीं करना चाहते। विम्साट और बियर्डसले ने बताया है कि किसी कृति के बारे में तीन प्रकार के ज्ञान हमें प्राप्त होते हैं। १–आन्तरिक यानी कि स्वयं कविता द्वारा प्राप्त अर्थ २–बाह्य–लेखक की डायरी, पत्र जर्नल्स आदि जो हमें यह बताते हैं कि क्यों, कब और किसके प्रति वह कृति विशेष लिखी गयी, ३–मध्यवर्ती–कवि के निजी और अर्धनिजी अनेक अर्थ, जो वह बाद को करता है।

वास्तव में काव्य को उसके प्रथम अर्थ में ही पढ़ा जाना चाहिए अन्य अर्थों से कुछ सहायता मात्र ली जा सकती है। जीवनी परक अध्ययन दो दृष्टियों से कुछ उपयोगी भी है, एक तो नितान्त निजी प्रसंग या अभिप्राय सामान्य अर्थों को प्रभावित करने लगते हैं [बिहारी का "नहि पराग" वाला दोहा उस प्रसंग से सम्बन्धित करके ही पढ़ा और समझा जाता है।] दूसरे जीवनी परक अध्ययन कुछ अनुत्तरदायी पाठकों की सनकों एवं लालबुझक्कड़ों प्रयासों या व्याख्याओं को सतुलित भी करता है। वास्तव में इस प्रकार के अध्ययन की यही सबसे बड़ी उपयोगिता है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि लेखक की सृजन प्रक्रिया की कलाविधि और उस समय की सम्पूर्ण चेतन अचेतन क्रियाशीलता या मानसिक स्थिति के बारे में रहस्यवादी अनुमान लगाए जायं

रचनाकार के वैयक्तिक मनोविज्ञान से आगे बढ़कर युंग जैसे लोग इस अनुभव की व्याख्या सामूहिक-सामाजिक अनुभव की शब्दावली में करने लगते हैं। पर कविता में मात्र सामूहिक अनुभव ही नहीं होते और न मात्र आद्य बिम्ब ही प्रयुक्त होते हैं। आद्यबिम्बों (Archtypal Images) के साथ ही अनेक अत्यन्त निजी बिम्ब एवं अनुभव उसमें गुंफित रहते हैं। वास्तव में सामूहिक अनुभव, जातिगत स्मृतियां एवं अनेक आद्यबिम्बों की स्थिति कविता की संकुलता की ओर ही संकेत करती है, विभिन्न स्तरों में से एक स्तर इनका भी होता है और इनका अध्ययन भी उसी पूर्व कथित समग्रता

की ही दृष्टि से होना चाहिए। ये तत्व भी तभी मूल्यवान हैं जब कृति के लिए उपादान [मैटीरियल] बन जायें।

सामाजिक मनोविज्ञान से आगे बढ़कर रचना के समाज-शास्त्रीय अध्ययन की ओर रुचि बढ़ी है। प्रगतिवाद के बाद से साहित्य के सामाजिक पक्ष पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा है। "साहित्य समाज का दर्पण प्रतिबिम्ब या अभिव्यक्ति होता है" ऐसे कथन हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों को खूब रटा दिये जाते हैं। इन कथनों का स्वाभाविक परिणाम है कि कृति को सामाजिक अध्ययन के लिए उपजीव्य सामग्री मान लिया जाता है। यह तो निर्विवाद है कि साहित्य किसी न किसी प्रकार का सामाजिक चित्र अवश्य होता है एवं व्यवस्थित ढंग से अध्ययन करने वाले का सबसे अधिक सरल उपयोग उसका सामाजिक इतिहास की सामग्री के रूप में अनुशीलन ही है। परन्तु साहित्यिक अध्ययन या समीक्षा की दृष्टि से इस प्रकार के अध्ययन का कोई सीधा संबंध नहीं होता। तुलसीदास ने उत्तरकाण्ड में कलि वर्णन में अपने युग को ही अभिव्यक्त किया है, यह ज्ञान मानस के समग्र प्रभाव या अर्थ को किसी प्रकार विवर्धित नहीं करता। ऐसे अध्ययनों का उपयोग तभी है जब निश्चित शब्दावली में यह बताया जा सके कि लेखक द्वारा चित्रित सामाजिक चित्र तथा वास्तविक सामाजिक यथार्थ परस्पर किस सीमा तक सम्बन्धित हैं। क्या वह चित्रित रूप अभिप्राय की दृष्टि से यथार्थवादी है? अथवा सामाजिक जीवन का व्यंग, विरूप चित्र या रोमैण्टिक आदर्शीकरण मात्र है? स्पष्ट है कि ऐसे अध्ययन के लिए यह अनिवार्य है कि अध्येता साहित्य के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी सामाजिक जीवन की अवगति प्राप्त करे; तभी वह ऊपर पूछे गए प्रश्नों का उत्तर दे सकेगा।

हर आलोचनात्मक पुस्तक में पृष्ठ-भूमि का अध्याय (बहुधा असम्पृक्त असम्बद्ध रूप से) रखने वाले समीक्षा-साहित्य में साहित्य की सामाजिक परिस्थिति-विशेष के महत्व को संकेत करने की तनिक भी आवश्यकता हम महसूस नहीं करते। वास्तव में साहित्य की सबसे अधिक तत्कालिक पृष्ठभूमि भाषा एवं साहित्य की परम्पराओं की होती है, ये परम्पराएँ एक सामान्य सांस्कृतिक वातावरण से घिरी होती हैं जो कि अपनी पाली में व्यापक सामाजिक जीवन से उद्भूत होता है। इस प्रकार किसी कृति को अपेक्षाकृत कम प्रत्यक्ष एवं ठोस तरीके से ही आर्थिक, राजनैतिक या सामाजिक परिस्थितियों से सम्बन्धित किया जा सकता है। सम्बन्ध होते अवश्य हैं (प्रत्येक मानवीय कार्यवाही एक दूसरे से कमोवेश सम्बन्धित रहती है) पर बहुधा वे अत्यधिक सूक्ष्म, वायवीय एवं दूर के होते हैं। इनके मध्य 'शार्टकट' नहीं खोजे जा सकते। जहाँ पर

आर्टेक्ट होते हैं वहाँ जिन भ्रमों की सृष्टि होती है वे रामविलास
रांगेय राघव, यशपाल भदन्त कौसिल्यायन जैसे लोगों के तुलसी स
विचारों में देखे जा सकते है। स्वयं मार्क्स ने इन सम्बन्धों की दायवीय
अनुभव करते हुए कहा था कि कला के चरम विकास के बहुत से युग
के विकास से मेल नहीं खाते। हमें ऐसा लगता है कि सामाजिक परि
विशेष का अध्ययन कलात्मक मूल्यों के बोध की सम्भावना तो नि
करता है, पर स्वयं उन मूल्यों को नहीं। यों इस दिशा में अध्ययन क
बड़ा क्षेत्र अनस्पर्शित पड़ा है जो अधिक प्रयत्न एवं प्रतिभा साध्य है।
त्यकी समाज जब निर्भरता की मात्रा का, समाज शास्त्री, मानव तत्व श
मनोतत्ववेत्ता एवं साहित्यिक अध्येता मिल-जुल कर अन्वेषण कर सक
इसी प्रकार शैलियो, साहित्य-रूपों, छन्दों और साहित्यिक विचार
ादि की समाज सापेक्षता का अध्ययन किया जा सकता है। परन्तु ये
ाहित्येतर ही अधिक होंगे। साहित्य तो दर्शन शास्त्र है न समाज
उसके अध्ययन की भी अपनी प्रकृति और प्रणाली है। मनोवैज्ञानिक
निक या सामाजिक सत्य रचना के भीतर तभी मूल्यवान होते हैं जब वे
समता, संकुलता एवं कलात्मकता की रक्षा करते है। यह तनिक
ान है कि हमारे साहित्यिक इतिहासो में सामाजिक, दार्शनिक, राज
ा धार्मिक पीठिका की चर्चा अधिक मिलती है, साहित्यिक परम्परा
उल्लेख अपेक्षाकृत कम होता है। यद्यपि इस प्रकार की खानेबन्द, रूढ़
द्धति के प्रति यत्र-तत्र असतोष प्रकट किया गया है। कुछ लोगों
दशाओ की ओर छिटपुट प्रयास भी किया है या कमी का अनुभव किय

आवश्यकता आज इस बात की है कि समीक्षा अधिक संतुलित
ानों कि रचना के साथ उसकी अधिक गहरी सम्पृक्ति हो, रचना के
तरों के साथ। प्रत्येक रचना स्व-निर्भर एकतान एवं अत्यधिक जटिल
तरों वाली होती है और युग तथा रचयिता से अलग होकर उसका
एक स्वतन्त्र अस्तित्व भी होता है। उसका इसी रूप में अध्ययन प्रारम्
चाहिए। लेखक के व्यक्तित्व या अतीत के अर्थ हमारे आड़े न आवें।
रचना के सम-सामयिक अर्थों से ही हमारा अधिक सम्बन्ध होना
रचनाएँ जो विभिन्न युगों में आदृत एवं सम्मानित रहती हैं, वे भी
भिन्न-भिन्न कारणों से प्रिय और सम्मान्य प्रतीत होती हैं आज का अर्थ
मूल्यवान है, आलोचना में। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसे हम
के परिप्रेक्ष्य से अलग करके देखने की बात प्रतिपादित कर रहे हैं। र
तथा इतिहास से नितान्त असम्पृक्त कर देने के तात्पर्य होंगे कि उसे स

सामान्य ज्ञान (General core of knowledge) के सन्दर्भ से अलग करके एकदम समझ से परे बना दिया जाय। परन्तु उसका इतिहास का परिदृश्य उसके समीपी अध्ययन का बाधक या अपने आप में साध्य न बन बैठे, यह हमारा आग्रह अवश्य है। रचना के संकुल स्तरों एवं अनेकमुखता का विश्लेषण अब अवश्य होना चाहिए। पोलिश दार्शनिक रोमन इनगार्डेन (Roman Ingarden) ने इन स्तरों की अवस्थिति की ओर बड़े स्पष्ट एवं सार्थक संकेत किये हैं। उनके अनुसार सबसे पहला स्तर किसी रचना में, वर्ण संयोजना का होता है। इस वर्ण संयोजना का वर्णों या ध्वनियों के वास्तविक उच्चारण या गायन के साथ एक करके देखने का भ्रम न होना चाहिए। इसी प्रथम स्तर के ऊपर अर्थ की इकाइयों का दूसरा स्तर उदित होता है। हर शब्द का एक अर्थ होता है और प्रसंगानुसार वे अर्थवान शब्द इस प्रकार मिलते हैं कि उनसे वाक्य का संगठन खड़ा हो जाता है। इस वाक्य संगठन पर वस्तु रूपी तीसरे स्तर का विकास होता है अर्थात् दृश्य, घटना, पात्र, वातावरण आदि फिर ये घटनाएँ पात्रादि एक विशेष दृष्टि बिन्दु से देखे जाते हैं। यही इन्गार्डेन के अनुसार चतुर्थ स्तर है, उसने अन्तिम स्तर पर दार्शनिक गुणों (Metaphysical qualities) की चर्चा की है। एक रचना पवित्र है या उदात्त, भयावनी है या आनंद—ये बातें इस अन्तिम स्तर की हैं। इस प्रकार एक रचना के अनेक स्तर, उपस्तर एवं इनमें जटिल पारस्परिक संबंध होते हैं। इनके स्पष्टीकरण के बिना रचना के वास्तविक महत्व को जानना सम्भव नहीं है और इनके जानने के लिए, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, रचना का समीपी अध्ययन आवश्यक है। यहीं यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारतीय काव्य-शास्त्र के ग्रंथों में इस प्रकार के समीपी अध्ययन के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। उनकी मुख्य कमी यह है कि अधिकांश आचार्यों ने अपने-अपने सम्प्रदाय से सम्बन्धित बात का ही अधिक अध्ययन किया है, तथा रचयिता एवं युग को भी नितान्त उपेक्षित कर दिया है। हम अब निरपेक्ष एवं सापेक्ष दोनों अध्ययन परम्पराओं की अतिवादिता से बच कर सर्वांगीण अध्ययन करेंगे तो एक बार फिर से इस देश की काव्यचिन्तन परम्परा में जीवन्त अंग से जुड़ेंगे ही नहीं, उसे अधिक विकास भी करायेंगे। इस अध्ययन से हमें भारतीय काव्यशास्त्र के उपयुक्त शब्दावली भी प्राप्त हो सकती है। पश्चिम में भाषा विज्ञान की सहायता से शैली शास्त्र (Stylistics) का विशेष अध्ययन आरम्भ हुआ है—अच्छा न होगा कि इस दिशा में भारतीय शब्द शक्ति, वक्रोक्ति, रीति एवं ध्वनि आदि के सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण देन दे सकने में समर्थ हैं।

मूल्यांकन के प्रश्न पर हम यहां विस्तार से विचार नहीं कर रहे हैं। फिर भी जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है कि कलाकृति जो है, जैसा कार्य कर रही है एवं उसका जो प्रयोजन है, उसी के अनुरूप उसे मूल्य दिया जाता है एवं मूल्य आंकने के लिए उसी प्रकार की अन्य वस्तुओं से उसकी तुलना की जाती है। अतः पहले इस समीपी अध्ययन के द्वारा रचना की प्रकृति एवं उसी प्रकार की अन्य रचनाओं का विश्लेषण कर लेना आवश्यक है। प्रयोजन की दृष्टि से होने वाले अनेक विवादों में यहाँ न फंस कर हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि साहित्य आनन्द भी है और ज्ञान भी। नटों की कलाबाजी या क्रिकेट मैच की अपेक्षा गुणात्मक रूप से भिन्न एक श्रेष्ठ प्रकार का गम्भीर आनन्द एवं कुछ सूचनाओं या आज अपने मन के लिए दी जाने वाली दलीलों की अपेक्षा वह भिन्न प्रकार का ज्ञान है। साहित्य मनुष्य को उसके चतुर्दिक विकीर्ण जीवन एवं स्वयं उसके अपने व्यक्तित्व का एक जागृत विवेक देता है। पाठक उसके माध्यम से जीवन के अनेक अज्ञात पक्षों के ताजे, गहरे एवं निकट सम्पर्क में आता है। यह ज्ञान ही है और अन्य प्रकार के ज्ञान की अपेक्षा न तो श्रेष्ठ है और न निकृष्ट, अधिक नज-दीकी अवश्य है भाव की दृष्टि से। अत मूल्यांकन के समय उसके प्रयोजन के इस विशिष्ट रूप के महत्व को आंकने की आवश्यकता होती है और यह आकलन साहित्यिक ही हो, उसकी अपनी प्रकृति एवं प्रयोजन के अनुकूल हो, यह अनिवार्य है। इसके लिए आवश्यक है कि सम्पूर्ण कृति का वैसा समीपी अध्ययन किया जाय, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कृति की स्वतंत्र सत्ता, उसकी सापेक्षता दोनों का एक सत्यात्मक मानदण्ड पर सन्तुलन अपेक्षित है। हिन्दी में अब ऐसे प्रयत्न अधिक व्यवस्थित एवं संगठित रूप से होने चाहिए ताकि रचना और आलोचना के मध्य एक गहरी सम्पृक्ति स्थापित होनी ही चाहिए जिसका कि फिलहाल हमारे यहाँ अभाव है।

समसामयिक सांस्कृतिक गतिविधि और साहित्यिक समीक्षा

क्या साहित्य समीक्षा आज भी सम्भव है ? यह प्रश्न उठाते हुए सहज ही एक उत्तर एक दूसरे प्रश्न के रूप में दिमाग में उभरता है कि यदि पहले सम्भव थी, तो इस समय क्यों नहीं सम्भव है। यदि इस विचार को स्वीकार न करें तो सहज ही दूसरा सवाल उठता है कि नये साहित्य एवं प्राचीन साहित्य (विशेष रूप से क्लासिक्स) में अन्तर क्या है ? क्या क्लासिक्स का अध्ययन यों ही रोज किये जाने वाले पठन-पाठनों से भिन्न होता है। दोनों प्रकार के साहित्यों के मूल्यों की एकता या विभिन्नता इस प्रसंग में नितान्त दृष्टव्य है। आखिर मनुष्य एक निरीह अनजान प्राणी बना नहीं रह सकता, एक स्थिति ऐसी आती है जब वह महत्वपूर्ण समझी जाने वाली वस्तुओं की सार्थकता की जाँच कर लेना चाहता है। सार्थकता की यह परीक्षा अनेक कोणों से होने लगती है। कुछ लोग तो उसकी अपनी प्रकृति और स्वरूप के आधार पर जाँचते हैं; परन्तु बहुधा लोग नैतिकता या विज्ञान आदि की कसौटियाँ प्रयोग में लाने लगते हैं। ऐसे अवसरों पर साहित्य जैसे अनिन्द्रिय ग्राह्य क्रिया व्यापार के अपरिभाष्य तथा सूक्ष्म मूल्यों की रक्षा करना कठिन हो जाता है। अपनी राजनैतिक चेतना के कारण मनुष्य नारेबाजी को एवं नैतिक दृष्टि सम्पन्न होने के कारण बंधे-बधाये ढाँचों की चेतना को मूल्यवान मानने लगता है, तथा जो कुछ इनके भीतर नहीं समा पाता, उसे वह सन्देह की दृष्टि से देखने लगता है। प्लेटो जैसे विचारक ने अपने युग के ज्ञान और नैतिकता के संदर्भ में ही कलाओं की निन्दा की थी। तब से यह प्लेटोवाद प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामने आता है। भारतीय काव्य-चिन्तन के क्षेत्र में प्लेटोवादी स्वर बहुत सशक्त कभी नहीं हो सका। प्रयोजन की दृष्टि से चतुरवर्ग फल प्राप्ति एवं मनोरंजन सर्व सम्मत लक्ष्य बने रहे। यहाँ हमें इनकी परीक्षा नहीं करनी है। पर आधुनिक काल में काव्य की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाला प्लेटोवादी स्वर यहाँ भी प्रमुख बना है। इससे बचने का एक रास्ता तो यह है कि विज्ञान आदि को साहित्य क्षेत्र में प्रविष्ट ही न होने

एवं दूसरा मार्ग अरस्तू का है जिसमें कि काव्य द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान
। अधिक यथार्थ या सत्य के निकट माना जाता है। बहरहाल सामान्यतया
टो और अरस्तू के मत ही भिन्न-भिन्न रूपों और संशोधनों के साथ उपस्थित
ये जाते रहे हैं। एक यदि साहित्य को अनुपयोगी, बुद्धि को कुण्ठित करने
ला एवं ख्याली पुलाव समझता है तो दूसरा मानता है कि साहित्य एक
प्रतिम ज्ञान और आनन्द देता है, जो हमारे व्यक्तित्वों को अतिरिक्त समृद्धि
ता है।

यदि अरस्तू के इस मत को हम स्वीकार कर लें तो इसका अर्थ होगा
के इस विशिष्ट, अप्रतिम ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही हम पढ़ते हैं और फिर
ये साहित्य एवं कलाशिल्प के अन्तर की बात भी मिट जाती है। परन्तु इसी
थल पर दूसरा महत्वपूर्ण सवाल उठ खड़ा होता है कि साहित्य हमारी
भ्यता एवं संस्कृति का एक व्यापार (activity) यदि है तो इस अप्रतिम,
शिष्ट तत्व द्वारा उसकी व्याख्या कैसे सम्भव हो। परिणाम स्वरूप एक
चित्र असुविधा में हम पड़ जाते हैं। साहित्य का एक सिद्धान्त जो कालिदास,
णभट्ट या तुलसीदास पर लागू हो जाता है, आधुनिक कहानियों पर कैसे
गू किया जा सकता है। प्रश्न श्रेष्ठता अथवा निकृष्टता का नहीं भिन्नता
ा है साहित्य के उपयोग या मूल्य के सम्बन्ध में आज का जिज्ञासु प्राणी
ऐसी सामान्यीकृत कथन को मानने में संकोच का अनुभव करेगा।

इस संकोच का कारण है : केवल नये और पुराने साहित्य के बीच
ी नहीं, नये साहित्य के भी विविध रूपों में परस्पर प्रकृति, उद्देश्य और मूल्यों
ं पर्याप्त विभिन्नता प्राप्त होती है। रेडियो के लिये, टेलीविजन के लिये,
सिनेमा के लिये, दैनिक अखबार, साप्ताहिक पत्र या मासिक पत्रिका के लिये
लिखे जाने वाले समसामयिक साहित्य रूपों में परस्पर वैभिन्य ढूंढना कठिन
हीं होगा। तुलसी ने प्राकृत जनगुण गान करने वाले कवि को अपने से
लग करके देखा अवश्य था, पर आज के अर्थ में व्यवसायिक लेखक,
चारक लेखक या गम्भीर लेखक के अन्तर शायद उनकी समझ में नहीं
आवेंगे। ये सारे के सारे आधुनिक प्रश्न हैं, जिन्होंने कि आधुनिक साहित्य
ी प्रकृति, प्रयोजन और मूल्य में पुराने से अन्तर उत्पन्न किया है। आज के
साहित्य के कभी-कभी एक दम भिन्न उद्देश्य प्रतीत होते हैं।

इस नये रूप को उपस्थित करने वाला मौलिक कारण शिक्षा का
या प्रसारी रूप है। पहले जमाने में थोड़े लोग साक्षर होते थे और अधिकांश
निरक्षर जन इन साक्षरों से मौखिक उपदेश ग्रहण किया करते थे। जो पढ़े-
योग कर अपने

को पूर्णतया ज्ञानवान और गुणी श्रोता बनाये रखने का प्रयास करते थे। ज्ञान-विज्ञान की इतनी दिशाएँ एवं इन दिशाओं में भी परस्पर इतनी अधिक विभिक्ति न होने के कारण उस समय यह सम्भव भी था। साधारण अपढ़ जनता इन्हें पर्याप्त आदर देती है। मौखिक कथा वार्ताओं आदि के माध्यम से निर्देशन प्राप्त होने के कारण स्मृति एवं कल्पना को बढ़ने के लिए खुलकर अवकाश मिलता था। जिस युग में अधिकांश अनदेखा हो, उसमें कल्पना के पखों को अधिक फैलाना ही चाहिए और जहां पर साक्षर जन कम हो वहां पर स्मृति में सहज रूप से बस जाने वाले रूपों का आधिक्य अनिवार्य है। इसी कारण मौखिक परम्परा के माध्यम से बढ़ने वाले साहित्य ने स्मरणीय एवं अलंकारों के प्रति सहज उन्मुख भाव प्राप्त होता है। ऐसी मन स्थिति में, यह बात सहज ही समझ में आ जाने वाली है कि ये पाठक या श्रोतागण जिस भी साहित्य या कला रूप में प्रवेश पा जाते थे, अपनी कल्पना और स्मृति के सहारे उसमें भाग लेता अनुभव करते थे। वे ऐसे कला-जगत के, इस प्रकार संरक्षक बन जाते हैं जो उनके दैनिक कार्य-व्यापार एवं हृदय के निकट है; और इस कला-जगत के भीतर एक एकता एवं शक्ति भी संरक्षित रह पाती थी। इस तरह सब मिला कर यह सारा समूह (पाठकों, श्रोताओं, अध्येताओं एवं सर्जकों का) लगभग समान स्तर पर रह जाता था एवं साहित्य के अनेक मुखी प्रयोजन या मूल्य अथवा व्यवसायिक एवं गम्भीर के अन्तर नहीं उभर पाते थे। वहाँ स्पष्ट प्रकृति के एवं निश्चित लक्ष्य थे, सम्मान की एक सहज भावना थी एवं लोक साहित्य शिष्ट साहित्य के मध्य कोई गहरा अन्तराल नहीं था।

पर आज स्थिति नितान्त गम्भीर हो गयी है। साक्षरता बढ़ती जा रही है, पर पढ़ने का उपयोग या लक्ष्य कोई निश्चित नहीं है। पढ़ना सुलभ, पर पढ़ने का प्रयोजन अस्पष्ट; परिणाम है कि साहित्यकार के अतिरिक्त आदर की वह भावना भी नहीं रही और स्मृति-कल्पना के भी पंख कट गये। पढ़ने की सुलभता के कारण प्रत्येक मनुष्य अपने से बाहर जगत के विभिन्न स्रोतों से कुछ न कुछ ग्रहण करता है परन्तु उसकी कोई सीमा नहीं कि सच-झूठ, तथ्य और मिथ्या, शुद्ध या भ्रष्ट के ग्रहण स्रोत क्या हो ? डेविड डैचेज के शब्दों में "लिपि के आविष्कार ने इसे सभव बनाया, छापेखाने ने एक बड़े पैमाने पर इसे व्यवहार्य सिद्ध किया और आधुनिक प्रकाशन पद्धति ने इसे अनिवार्य बना दिया।" वास्तव में पढ़ने के अनेक उपयोग हो सकते हैं, अच्छे-भले एवं बुरे भी। पढ़ना तो अपने आप में साधन मात्र है और यह साधन अनिवार्य है जब कि साध्य ऐच्छिक हो गया है। फिर पढ़ने के लिये सामग्री

जिस प्रकाशन पद्धति से होकर आती है वह एक व्यवसाय है जो लाभ के लिये है। लाभ वाला यह पक्ष साहित्य के प्रति आधुनिक मनोवृत्ति को स्पष्ट करता है। एक ज़माने में लाभ राजा जयसिंह या विक्रम से होता था तब विफलता होने के खतरे कम थे (क्योंकि पहले तो श्रोता संख्या कम और फिर वह भी रसिक) पर अब तो लाखों-करोड़ों की रुचियां हैं, उनकी भूखें हैं और उनकी तृप्ति लेखक को भी धन-सम्मान देती है। ऐसी दशा में अपने सहज पथ को छोड़कर इस पाठक समूह का चेरा बन जाना कुछ अनहोना नहीं है।

इसी समस्या के साथ जुड़ी समस्या अभिजात एवं जनप्रिय साहित्य की है। इसके कारण ही साहित्यिक मूल्यों के बारे में ऐसा भ्रम फैला हुआ है। दो श्रेणियों के पाठक सम सामयिक जीवन के अत्यन्त प्रत्यक्ष सांस्कृतिक तथ्य हैं। दोनों श्रेणियों के पाठकों का अन्तर वास्तव में बुद्धि का अन्तर नहीं है। वास्तविक साक्षरता, बुद्धि या कौशल की पर्याय न होकर मस्तिष्क एवं कल्पना की एक स्थिति है जो किसी भी बौद्धिक स्तर पर सम्भव है। पर साक्षरता आज वास्तविक न होकर अधूरी है। यह कहने के लिये हमें क्षमा किया जाय कि इस अर्द्ध-साक्षरता की अपेक्षा छोटे बच्चे, पुराने अपढ़ अधिक साक्षर होते हैं। क्योंकि कुछ मृत खोखले साँचों के द्वारा उनकी ग्रहण शीलता एवं क्रियात्मकता नष्ट तो नहीं हो जाती। पर आज का अर्द्ध साक्षर तो बस निष्क्रिय रूप से पढ़ता जाता है। और ज्यों-ज्यों पढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी निष्क्रियता बढ़ती जाती है। वे अपने विवेक से काम लेना छोड़ देते हैं। जो जैसा है वैसा ही ग्रहण कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त जो ग्रहण करते हैं उसका भी सचेष्ट उपयोग नहीं करते। वे उपयोग करें भी क्यों? किसी बौद्धिक प्रकाश या प्रयोजन के लिये तो वे पढ़ते नहीं। औद्योगिक युग ने अवकाश दिया, नीरसता दी, परस्पर के परिचय एवं प्रेम-भावनाएँ, सौहार्द्र और सहानुभूति कम हुई परिवार कुटुम्ब एवं समाज की चूलें कमजोर पड़ी हैं; जीवन के संघर्ष और जटिलतायें भी बढ़ी हैं। ऐसी स्थिति में वे इस अवकाश को भरने के लिये और दुर्वह स्थितियों से पलायन के लिये जो कुछ मिल जाता है उसे ही वह पढ़ जाता है। यही कारण है कि आज के साहित्य का गुण है कि वह पठनीय (Readable) हो न कि स्मरणीय (Memorable) प्रकाशन पद्धति भी कहती है कि आज पढ़ो चाव से और कल भुला दो, क्योंकि कल नयी किताब फिर आने वाली है उसे भी तो खरीदा जाना है। परन्तु जब साहित्य में मौखिक तत्व प्रधान था, तब उसे मस्तिष्क में बना ही रहना चाहिये था। इसीलिये हम देखते हैं कि आधुनिक पुस्तकें प्राचीन महनीय (Classics) कृतियों से कितनी भिन्न हैं।

इसके अतिरिक्त साहित्य द्वारा प्राप्त होने वाले आनन्द का भी प्रश्न आता है। प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्र में मनोरंजन का स्थान बहुत ऊँचा था। पर आज धीमानों को काल बिताने के लिये काव्य एवं शास्त्र विनोद की अपेक्षा अनेक सहज और आकर्षक माध्यम विद्यमान हैं। वह नये दायित्वों की ओर भी देखता है। (देखिये—कल्पना के अप्रैल '६० अंक में रामस्वरूप चतुर्वेदी का लेख—साहित्य के नये दायित्व) यदि आनन्द को श्रेष्ठ कोटि के आनन्द के रूप में लिया जाय, तब भी प्रश्न उठता है कि क्या "बूँद और समुद्र" तथा कादम्बरी से मिलने वाला आनन्द भी एक ही प्रकार का है। आधुनिक युग का बौद्धिक तो आनन्द या मनोरंजन को नीचे श्रेणी का ही मूल्य प्रदान करने के लिये तैयार होगा। सब मिला कर आनन्द का प्रश्न अत्यधिक सापेक्षिक है और उसके आधार पर एक सामान्य (Common) एवं सर्व मान्य साहित्यिक मूल्य की प्रतिष्ठा करना कठिन होगा। अधिक आनन्ददायक को श्रेष्ठ माना जाय, यह कसौटी हमें उपयुक्त नहीं प्रतीत होती है।

वर्तमान युग का एक अन्य सांस्कृतिक-साहित्यिक तथ्य है जो इस रूप और परिमाण में हमें प्राचीन काल में नहीं मिलता। एक ओर तो पेशेवर आलोचकों की एक पूरी जमात उठ खड़ी हुयी है जो पाठक को चाहे अनचाहे रचना का मूल्य बता देना चाहती है, तथा दूसरी ओर आलोचकों एवं लेखकों के अनेक समुदाय, दुर्ग और प्राचीरें बन गयी हैं जिनके कारण समुचित विश्लेषण और सग्रहण का कार्य नहीं हो पाता। रचना का कार्य इन्हीं स्थितियों के भीतर होता है। यह एक ऐसी कृत्रिम पर सशक्त स्थिति है जो आधुनिक रचनाओं की प्रकृति, प्रयोजन और मूल्य को दूर तक प्रभावित करती है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य आज अनेक प्रकार के पाठकों, श्रोताओं को सम्बोधित करता है। अनेक प्रकार के उद्देश्यों एवं प्रयोजनों के लिये काम करता है। ऐसी स्थिति में इस अनेकधा विभक्त साहित्य के लिये कहना पड़ जाता है कि क्या आज इतनी समीक्षा सम्भव है? हम मानते हैं कि सम्भव तो है, पर जिस नवीन समीक्षा-शास्त्र की इसके लिये आवश्यकता है उसे अंशतः समाज शास्त्र की भी कृति होना पड़ेगा यदि ऐसा न होगा तो हमें समसमायिक साहित्य जैसा है और जैसा होना चाहिये—दोनों के अधिकांश भाग को छोड़ देना होगा। इसीलिये साहित्य शास्त्र एवं समाज-विद्याओं के मध्य एक संयोजन एवं समन्वय की स्थिति विचारणीय है।

प्राचीन काल के पूर्व और पश्चिम के काव्य शास्त्रियों ने अपने समय के उपलब्ध साहित्य का विश्लेषण करने के उपरान्त आकलन करना चाहा था। आज भी उसी की आवश्यकता है। और यह सम्भव भी है बशर्ते कि साहित्य द्वारा इस समय किये जाने वाले विविध कार्य-व्यापारों एवं प्रयोजनों को भली भांति पृथक किया जा सके। कितने प्रकार से विविध काल्पनिक स्थितियों का व्यवहार किया जाता है; तथा साथ ही कितने भिन्न अभिप्रायों से आज के पाठक इनकी ओर अभिमुख होते हैं, इसका अध्ययन होना चाहिये। हम इन अभिप्रायों के मूल में स्थित आर्थिक, सामाजिक स्थितियों की, उन्हें प्रेरित करने वाली मानसिक प्रवृत्तियों की विवेचना करते चलें तो अच्छा ही है। पर अधिक आवश्यक कार्य है कि इन अभिप्रायों एवं कार्य व्यापारों का अन्तर समझा जाय। आज तक द्वन्द्व सम्भवतः नैतिक एवं सौन्दर्य परक के बीच न होकर साहित्यिक और असाहित्यिक का है। क्योंकि हम मानते हैं कि कोई भी रचना अपने लेखक के अभिप्रेत प्रयोजन से विलग होकर भी जीवित रह सकती है। और उसके साहित्यिक मूल्य लेखकों के अभिप्रेत से बहुधा पृथक होते हैं। 'सती मैया का चौरा' उपन्यास का साहित्यिक मूल्य उसकी प्रतीक-शक्ति के भीतर है। जब कि लेखक शायद कम्युनिस्ट दर्शन के प्रचार को भी अपने को अभिप्रेत मानता रहा हो। अतः पहला कार्य साहित्यिक और असाहित्यिक मूल्यों के अन्तर करने का है। अच्छी और बुरी किताब की चर्चा तभी की जा सकती है। इस प्रकार सम्भवतः हम देख सकेंगे कि वास्तविक मूल्य प्रत्यक्ष और ऊपर दिखायी पड़ने वाले प्रयोजनों या व्यापारों पर आधृत नहीं होते हैं। उदाहरणार्थ किसी पुस्तक में पत्रकारिता वाली विधि पर कुछ सूचनायें दी गयी हैं, किसी मत विशेष के पक्ष में प्रचार किया गया है, अब यदि इन दोनों को भुला देने के बाद वह कृति किसी मानवीय अनुभव को आलोकित करती है एवं उसकी सराहना इस सूचना या प्रचार में सीमित नहीं है तो उसे हम साहित्यिक मूल्य कह सकते हैं एवं उस कृति का ढाँचा और गठन भी इस मूल्य का एक अंग होगा। यह प्रस्तुतीकरण कृति का वास्तविक कार्य (Function) होगा। पुस्तक रिव्युवर किताब के प्रत्येक मूल्य को बताता है, किसी किताब में क्या बात पठनीय है इसका वह उल्लेख करता है परन्तु आलोचक केवल साहित्यिक मूल्यों को विविक्त और आकलित करता है।

मगर साक्षरता और प्रकाशन व्यवस्था ने पुस्तकों की विशाल राशि विभिन्न उद्देश्यों के लिये उपस्थित कर दी है तथा पाठक वर्ग की एकता को समाप्त कर उसे विशृंखलित कर दिया है, तो हम अपनी समीक्षा सम्बन्धी

धारणाओं में तभी एक रुपता ला सकेंगे जब इस "साहित्यिक प्रयोजन" को हम दृष्टि में रखेंगे। यह ध्यान रहे कि इस प्रयोजन के मूल्य अपने आप में अप्रतिम होने चाहिये— इसी प्रसग में यह भी खोज होनी चाहिये कि क्या *यह मूल्य प्राचीन क्लासिक्स में भी उपलब्ध होते हैं। यदि केवल पहली बात* (अप्रतिमता) है तो इसका अर्थ होगा कि नये साहित्यिक मूल्य सामने आये है, परन्तु ऐसे किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व *वास्तविक उचित मूल्य एवं* नये मूल्य का अन्तर स्पष्ट कर लेना होगा।

ऊपर हम यह भी कह चुके है कि उपयोग हीन अवकाश को बिताने के लिये, नीरसता एवं संघर्ष से पलायन करने के लिये लोग पढ़ते हैं पर इस पलायनवादी की सदैव और सर्वत्र निन्दा करना उचित नही है। त्रासदायक *स्थितियों या बातों को भुलाने का प्रयत्न कुछ ऐसी निन्दनीय बात नहीं है।* हाँ, यह अवश्य है कि उन स्थितियों से कैसे निपटा जाय इसके बारे में सोचना *एक अधिक श्रेष्ठ क्रिया है, बजाय केवल उन्हें भुलाने को पढ़ते रहने के लिये।* इसी प्रकार अवकाश के समय दर्शन चिन्तन या गणित की समस्याओं या किसी सिद्धान्त के बारे मे सोच-विचार भी मानव समाज की एक श्रेष्ठ परिणति हैं। दैनिक जीवन के शुद्ध एवं अमहत्वपूर्ण यथार्थ से महत्वपूर्ण यथार्थ की ओर हम साहित्य में आते हैं एवं तुच्छ यथार्थ से महत्वपूर्ण दिशा सिद्धान्त के क्षेत्र में मिलती है।

परन्तु क्या साहित्य यह महत्वपूर्ण यथार्थ मात्र ही उपस्थित करता है? इस प्रश्न का उत्तर एक दूसरे प्रश्न के माध्यम से मिलेगा। आज का पाठक किस उद्देश्य से पढ़ना प्रारम्भ करता है, यह देखने के लिये इस बात पर ध्यान देना होगा कि पाठक सजग मस्तिष्क से पढ़ता हुआ कृति के मन्तव्यों को आगे बढ़कर लेता है *या मूक आत्म समर्पण कर देता है। बहुधा पाठक* चाहता है कि लेखक ही सब कुछ कर दे, उसे अपनी ओर से कोई प्रयास न करना पड़े। पर यह स्थिति किसी प्रकार भी स्वस्थ नहीं होती क्योंकि बड़ी से बड़ी रचना मे शक्ति, उत्तेजना, अन्तर्दृष्टि *या आलोक देने की संभावना मात्र* रहती है। कलात्मक आस्वाद इस प्रकार दुहरी प्रक्रिया होती है, कृति का *कलात्म मूल्य और प्रमाता का सजग बोध।* पाठक कभी आत्म समर्पण न करे पर सहयोग सदैव करे; साथ ही उसको कल्पना का एक ऐसा प्रकार विकसित करना चाहिये कि जैसे ही पुस्तक का मस्तिष्क पर प्रभाव पड़े वैसे ही एक महत्व को वह जन्म दे सके।

परन्तु जब यह दुहरी प्रक्रिया न घटित हो सके तब दोष किसका माना *जाय, पुस्तक का या पाठक का? यह यह बड़ा जटिल प्रश्न है* जिसका उत्तर

सोचने में प्रजातन्त्र के भीतर जन शिक्षा की तमाम समस्याओं को देखना पड़ेगा। पुस्तक और पाठक दोनों ही एक दूसरे के पूरक होते हैं और उनको अलग-अलग ढंग से देखना असम्भव है। जब हम इन समस्याओं से उलझते हैं तो फिर साहित्यिक मूल्य हाथ से छूटते प्रतीत होते हैं। इसलिये पुनः प्रयोजन वाले प्रश्न की ओर लौट चलना समीचीन होगा। कैसा मनोरंजन है—आनन्द कैसा है, या कृति में किस प्रकार के पलायन को तृप्ति मिलती है, यह बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध होगा। इस प्रकार के परिणाम स्वरूप एकदम नये उत्तेजक साहित्यिक साँचों एवं धारणाओं के बदलाव एवं पुर्नसंगठन सामने आ सकते हैं अथवा पुरानी ही धारणाओं या पूर्वग्रहों का उत्तेजक समर्थन भी हो सकता है। यहाँ हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि सरस साहित्य जितना भ्रष्ट कर सकता है समाज को, उतना विज्ञान भी नहीं। साहित्य में भी सबसे अधिक खतरा उपन्यास से है। इन काल्पनिक गप्पों का हमारी संस्कृति से क्या योग है, इस पर बहुधा हम ध्यान नहीं देते। पर वास्तव में इनका महत्व आकलित होना चाहिये। इन्हीं सब कारणों से या यदि वर्तमान समीक्षक इस प्रश्न से प्रारम्भ करें कि यह अथवा कोई किताब क्यों पढ़ी जाय ? तो उसे अधिक मौलिक और गहरे प्रश्नों की ओर जाने में सहायता मिलेगी।

हमारे वर्तमान साहित्य-पाठक वर्ग में साहित्यिक प्रश्नों के प्रति जड़ता आ गयी है। हम अब साहित्यिक महत्व एवं मूल्यों को विवाद का विषय नहीं बनाते। उसका परिणाम है कि साहित्यिक मूल्यों के बारे में प्रबुद्ध पाठक भी अनजान मिलेगा। ऊपर जिन प्रश्नों को उठाया गया है, उनके उत्तर शायद पाठकों के पूर्वग्रह पर चोट कर सकेंगे; और उन्हें अपने पूर्व ग्रहों के समर्थन में कुछ कहने के लिये उत्तेजित भी कर सकेंगे। यह उत्तेजना पाठक वर्ग की जड़ता दूर करने में सहायक होगी, तथा अत्यधिक सजग एवं सचेष्ट साहित्यिक चिन्तन ही हमारी समसामयिक साहित्यिक समीक्षा को सही दिशा दे सकेगा।

सामान्य पाठक और आलोचक

जिन्दगी को कैसे जिया जाय, यह सीखने के दौरान में जहाँ मनुष्य ने विज्ञान, साहित्य कला आदि अनेक मानवीय प्रपन्नों का विकास किया, वहीं अन्य अनेक शक्तियाँ भी उपलब्ध कीं जो उसके स्वभाव का अंश बन गईं। पदार्थों के रूप गुण, मात्रा आदि में अन्तर कर सकने की एक ऐसी ही स्वाभाविक शक्ति या प्रवृत्ति मनुष्य में होती है। शीतोष्ण, लाल-पीले, नरम-कठोर के अन्तर को समझने और स्पष्ट करते-करते मनुष्य जाने-अनजाने अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक जीवधारी पदार्थ या घटना का अन्तर प्रति-अन्तर बूझते हुये समीक्षा की दिशा में बढ़ता है। इसी अर्थ में हम कह सकते हैं कि प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति एक समीक्षक होता है। परन्तु भावनात्मक आवेग की स्थिति में मनुष्य का यह विवेक अभावात्मक स्वरूप ग्रहण कर लेता है। बहुधा किसी कथा-कविता को पढ़ते-सुनते अथवा नाटक-फिल्म देखते हुए व्यक्ति इतना अधिक बह जाता है कि कुछ समय के लिये उसी के मध्य जीने लगता है। उसके आत्मगामी अनुभव के बाद पीछे हटकर वस्तुगत ढंग से उसे देख नहीं पाता। किसी कथा के मध्य के मूल्यों के संघर्ष के बीच से होकर गुजरना तथा उनका महत्व बौद्धिक रूप से आँकना, या किसी पात्र की भावना, उत्सुकता आदि को सही नजर रखना भिन्न-भिन्न क्रियायें हैं। आत्मगत अनुभूति और वस्तुनिष्ठ परख ये दोनों बातें सचेत पाठक के लिये उतनी ही आवश्यक हैं जितनी सजग रचयिता के लिए। कृतिकार के प्रेष्य अनुभव का केवल भोग न करना पर उसकी परीक्षा न करना जीवन में अर्थ-भाव से भरना है। लेखक जिसको अभिव्यक्त करता है, उसके प्रति पाठक समूह को पूर्ण बोध देना एक प्रकार से लेखक के कार्य को पूर्णता प्रदान करना है। समीक्षात्मक परीक्षण का यही मुख्य कार्य है। समीक्षा करने वाला कृति के स्वाद या रस के समय अपनी विवेक शक्ति (discriminating power) को सामान्य पाठक की भाँति कुण्ठित नहीं होने देता।

यह बात बहुत स्पष्ट रहनी चाहिये कि आलोचक भी पाठक ही है—पर वह विशिष्ट पाठक है। वह ऐसा पाठक है जो एक प्रकार के अनुभव—साहित्यिक अनुभव का मूल्यांकन करता है। कोई उपन्यास या कविता अच्छी है या बुरी? इसका उत्तर देने के पूर्व है या नहीं जो उसे अपने [illegible]

वे कौन से गुण हैं जो उसे अब तक जीवित रख पाये हैं ? जब ऐसे उठाये जाते हैं तो एक कृति को वास्तव में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रख खा जाता हैं। सामान्य पाठक ऐसे प्रश्नों को बचा जाता है। वह दैनिक र की वस्तुओं के स्थायी तत्वों को तो ढूँढ लेता है, पर कला-कृतियों स्थायी तत्वों का निर्णय करने का न तो उसके पास धैर्य होता है न त ज्ञान तथा न वह विश्लेषण शक्ति जो मूल्यों के स्थिर साँचों के भीतर ाले परिवर्तनों को विवेचित कर सके, यद्यपि इस विवेक में ही कला रसबोध है। यह एक प्रकार की सजग अभिज्ञता है, मानसिक और क कल्पना है तथा एक प्रकार की शिक्षा भी है।

पर इसका अर्थ यह नहीं है कि रचना के प्रभावात्मक स्वरूप की कर दी जाय। साहित्य यदि प्रेषण का एक प्रकार है तो विस्तृत और ुभवों वाले विविध पाठकों पर उसकी प्रभाव क्षमता भी एक प्रकार ांकन ही है; फिर समीक्षक यही नहीं करता, बल्कि पाठक में रचना वैसी ही देखने और दाद देने के लिये उस रचना के प्रति बोध और ा भाव भी जाग्रत करता है। इस प्रकार के कार्य के लिये उसे दी या आत्मचरितात्मक ढंग भी स्वीकार करना पड़ता है। वास्तव भावक की यही स्थिति है जो पाठक और समीक्षक दोनों में है।

अतीत के साहित्य को पढ़ते समय इस प्रभाव को व्यक्त करना आलो-ए आवश्यक नहीं है, क्योंकि वे तो अब तक बन चुके होते हैं। उसे य में एकत्र तथ्यों के उन विविध साँचों एवं अन्तर्सम्बन्धों की खोज वत है जो हमारे युग के लिए भी काम के हैं। प्राचीन लेखकों का जूबेपन और उनकी न्यूरोसिस को समझने की बजाय वर्तमान उनका मूल्य समझाने के लिये होना चाहिये। ऐसा समीक्षक सामाजिक गत्यात्मकता के संधान के अन्दर देखना है। परम्परा तक अभ्युदय के विभिन्न पक्षों के साथ साहित्यिक कृति के विविध वा विलगाव और कृति द्वारा प्रचारित वास्तविक प्रवृत्तियों की चित मूल्यांकन में समीक्षा के मूल तत्व निहित हैं। लेकिन किस किस स्थान पर है, क्या उसने अपने युग के सर्वश्रेष्ठ मूल्यों को दी है, क्या उसने वस्तुगत सत्य की व्यंजना की है, इन प्रश्नों के मय बहुधा समीक्षक द्वारा अल्पज्ञात या अज्ञात कृतियां प्रकाश में और अपेक्षाकृत प्रतिष्ठितों का महत्व घट जाता है। ऐसा अध्ययन ाठक समुदाय के भीतर नैरन्तर्य-परम्परा के तत्वों का बोध तो

जगाता ही है उन पारस्परिक सम्बन्धों को भी स्पष्ट करता है जो साहित्य के अतिरिक्त समाज की अन्य हलचलों एवं कार्यों में व्याप्त रहे हैं। इस इतिहास बोध के द्वारा पाठक विकास की आन्तरिक प्रक्रिया को समझता है तथा विकसित हुए सत्य की धारणा को जाग्रत कर पाता है, जो उसे बीते ही नहीं समसामयिक साहित्य के प्रति भी सहानुभूति एवं विकासमान मूल्यों को समझने की चेतना प्रदान करता है। बिना इस इतिहास-बोध (Historical sense) के समीक्षा एकेडेमिक और जीवन्त विकास-प्रक्रिया से अलग हो जाती है। कहना न होगा हिन्दी में इस समय विश्व विद्यालयों में इस प्रकार की समीक्षा (एकेडेमिक) के प्रभूत दर्शन किये जा सकते हैं जो पाठक के लिये नीरस भी हैं और व्यर्थ भी।

स्पष्ट है कि समीक्षक का कार्य विश्लेषण, समीकरण और मूल्यांकन है। और उसके मूल्यांकन के मानदण्ड का आधार जीवन है। जिस प्रकार कलाकार-लेखक की कृति का मूल क्षेत्र साहित्य की सापेक्षता और सन्दर्भ में देखा गया जीवन है, वैसे ही समीक्षक का कच्चा माल जीवन के सन्दर्भ में स्थित साहित्य है। तथा इस परीक्षण मे तार्किक विश्लेषण और बौद्धिक व्याख्या के अन्तर्गत मूल्यों का परीक्षण उसी प्रकार होता है जैसे कि लेखक लिखते समय किन्हीं चरित्रों या भावनाओं को तौलता रहता है। इस प्रक्रिया मे सफलता प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि लेखक की ही भांति आलोचक को भी जिस समाज में वह रहता है उसके मूल्यों, मूल्य स्रोतों और सांचों तथा मूल्यों की सापेक्ष स्थिति, इन सबकी गम्भीर चेतना हो। स्पष्ट है कि उस स्थल वह सामान्य पाठक से ऊपर उठकर कृतिकार के स्तर पर आ जाता है। इस स्तर पर आकर फिर उसे यह बताने की आवश्यकता नहीं रहती कि उसने किसी विशिष्ट कृति के प्रति कैसी प्रतिक्रिया की है, वह अपने निष्कर्षों को इस प्रकार उपस्थित करे जिससे कि पाठक गए यह समझ सकें कि वह लेखक द्वारा उठायी गयी समस्याओं एवं मूल्य द्वन्द्वों से किस प्रकार और क्यों उस प्रकार उलझा है।

समीक्षक के मस्तिष्क मे लेखक और पाठक दोनों होते हैं (तथा जिस समाज में समीक्षा और समीक्षक ने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह किया है वहाँ पाठक के मस्तिष्क में लेखक के पूर्व आलोचक की भी स्थिति विद्यमान रहती है, वह उससे प्रेरित किंवा चालित होता रहता है)। अतः उसे एक ओर लेखक के अभिप्रेत को सहानुभूति देनी होती है और दूसरी ओर उस पाठक समाज की कठिनाइयों में प्रवेश करना होता है जो एक नये विचार को जीवन देने का प्रयास करते हैं तथा अपने मूल्य सांचों को इस प्रकार पुनः

चाहते हैं कि उनके भीतर नये सत्य समाहित हो सकें। अतः आलोचक को इस सम्पूर्ण परिस्थिति को समग्रता से ग्रहण करना होता है जिसके अंतर्गत सृजन प्रक्रिया और प्रस्तुतीकरण दोनों घटित हुए हैं। इस प्रकार वह कृति की तात्कालिकता और व्यापक साहित्य भंडार की इकाई की सत्ता, इन दोनों पक्षों को सँभाल कर उसकी शक्ति का आत्मघाती बोध और सीमाओं तथा उपलब्धियों की वस्तुगत स्वीकृति पाठकों को प्रदान करता है। इसी क्रम में वह समीक्षा का भार अन्ततः समय पर न डालकर स्वयं उसके स्थायित्व का निर्णय करने का प्रयास करता है।

हम सब के मन में अपने चारों ओर के जीवन, घटनाओं, दृश्यों तथा तत्सम्बन्धी मूल्यों की एक सामान्य धारणा विद्यमान रहती है। परन्तु इस सौसत जागतिक तस्वीर के भीतर ही उसके विरोध छिपे होते हैं जो एक विशिष्ट अंश में पहले उभरते हैं और आगे फिर फैलते हैं। जीवन की यही विकास प्रक्रिया है। इन्हें विरोध कहा जाय या नये ज्ञान खण्ड—पहले एक छोटे से समूह में उदित होते हैं। प्रारम्भ में उन्हें सामाजिक-धार्मिक कारणों से मान्यता प्राप्त नहीं होती; पर दूरदर्शी कलाकार एवं मर्मदर्शी समीक्षक उन्हें अभिव्यक्त करते हैं और स्वीकृति देते हैं। समीक्षक यहाँ एक सेतु है जो इन स्वीकृत एवं नये सत्यों के मध्य विद्यमान रहता है। दोनों प्रकार के मूल्यों के मध्य जो एक चुनौती की स्थिति होती है (एक ओर सामान्य धारणा वाला पाठक और दूसरी ओर लेखक) उस अन्तराल को आलोचक पाटने की चेष्टा करता है। वह पाठक की बौद्धिक चेतना का परिष्कार ही नहीं विस्तार भी करता है जो आगे बढ़ कर कवि के भावसत्य को आत्मसात् कर पाती है।

इन सामान्य पाठकों के भी अनेक स्तर होते हैं—काल क्रम से भी और ज्ञान की दृष्टि से भी। एक ही लेखक अनेक युगों में प्रशंसित रहता है, पर हर युग की प्रशंसा का स्तर और आयाम भिन्न होते हैं, अतः यहाँ इनके विवेचन में जाना ठीक नहीं, पर ऐसे कलाकार लेखकों के बारे में यह बात ध्यान में रखने की है कि उनकी कृति की संयोजित जटिलता ऐसी होती है कि उनके युग के ही विविध स्तरों के नाना प्रकार के पाठक उसमें रस प्राप्त कर सके होंगे। तात्पर्य यह कि उसने अपने युग के जगत चित्र (World picture) के विविध मन्तव्यों एवं विरोधों (Contentions & Contradictions) को समोया है। उसका मूल्य पैटर्न ऐसा रहा है जो परस्पर विरोधी दिखने वाले मूल्यों के मूल में जाकर उनका समीकरण कर सका है। कुशल समीक्षक जब इसका उद्घाटन करता है तब वह मानो सामान्य पाठकों

को इन मूल्यों की अवगति प्रदान कर विकास प्रक्रिया को समझने में ही नहीं सचेत रूप से आगे बढ़ाने में सहायता प्रदान कर रहा है।

परन्तु इन समस्त दायित्वों को निभाने के लिए आलोचक को अवकाश साध्य परिश्रम करना होता है, और इसी अर्थ में उसे पेशेवर आलोचक (Professional critic) कहा जाता है। सृजन-प्रक्रिया, चतुर्दिक विकीर्ण जीवन, ज्ञान के नये उन्मेष और उनके भावात्मक बोध द्वारा जाग्रत या परिवर्तित मूल्य या मूल्यार्थ, ऐतिहासिक विकास क्रम में उत्पन्न साहित्य धारा में साहित्यकार का स्थान और इसके लिए इतिहास बोध इन सबको आत्मसात् करने के लिए उसे अनुभूति सापेक्ष, साहित्य-शास्त्र सापेक्ष तथा सम्बन्धित अन्य शास्त्र सापेक्ष होना पड़ता है जबकि सामान्य पाठक केवल अनुभूति सापेक्ष होकर पढ़ता है। इसके अतिरिक्त उसमें एक और विशिष्टता होती है अभिव्यंजन क्षमता की। इसके साथ मिला हुआ प्रश्न है कि इस अभिव्यंजना का पाठक कौन है ? सहज भाव से उत्तर दिया जा सकता है—साहित्य का पाठक। पर तनिक गहराई से देखने पर प्रतीत होता है कि साहित्य का प्रत्येक पाठक आलोचना नहीं पढ़ता—पढ़ना पसन्द भी नहीं करता। तुलसी या प्रेमचन्द के थोड़े ही पाठक रामचन्द्र शुक्ल या रामविलास शर्मा को पढ़ते हैं। वास्तव में पाठकों के (विशेष रूप से समसामयिक साहित्य के) दो स्पष्ट वर्ग होते हैं—एक तो विशुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से पढ़ने वाला (general reader) और दूसरा प्रबुद्ध पाठक वर्ग (critical reader)। पहले वर्ग के साथ यदि किसी प्रकार के समीक्षक का सम्बन्ध होता है तो वह केवल बुक रिव्यूवर (इसके सम्बन्ध में आगे चर्चा करूँगा) का होता है। हम जिस आलोचक की बात कर रहे थे, वह दूसरे प्रकार के पाठकों से सम्बन्धित होता है। इन दोनों (आलोचक और प्रबुद्ध पाठक) के सम्बन्ध का उल्लेख करते हुए एक भ्रम का भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। अपनी शास्त्र सापेक्ष अभिज्ञता के कारण बहुधा आलोचक अपने पाठक का समधर्मा भावक न बन कर विशेषज्ञ परामर्शदाता बन जाता है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ जाती है कि वह केवल अन्य विशेषज्ञ के ही लिए बोधगम्य रहता है। ऐसी आलोचना जैसा कि डेविड डेचेज ने संकेत किया है पाठकों और लेखकों के मध्य मध्यस्थ का कार्य न करके उन्हें अविशेषज्ञों—सामान्य पाठकों द्वारा किये जाने वाले रसास्वाद में बाधक बन जाती है। किसी भी सभ्यता की श्रेष्ठता का मतलब यही है कि सामान्य प्रबुद्ध जन अपने सांस्कृतिक परिवेश की ऐसी जागरूक चेतना रखते हैं न कि उसके विशेषज्ञ जन। समीक्षक की सफलता इसी में है कि पाठक को वह इतना प्रबुद्ध कर दे कि वह समीक्षा की भी समीक्षा कर सके।

अभी 'रिव्यूवर' की बात उठ चुकी है। नये साहित्य की विचारात्मक सीमा रेखा 'रिव्यू' है, यह मन्तव्य भी प्रकट किया गया है। रिव्यूवर भी एक प्रकार का समीक्षक ही है, परन्तु अपने लक्ष्यीभूत पाठक तथा कार्य प्रणाली के कारण उसे पेशेवर आलोचक से अलग किया जा सकता है। पाठक समुदाय की दृष्टि से 'रिव्यूवर' अधिक महत्वपूर्ण होता है, यद्यपि उसका दावा यह नहीं हो सकता कि वह स्थायी साहित्य में कुछ नया जोड़ रहा है (पर इसके अर्थ यह नहीं कि उसका अपना व्यक्तिगत महत्व स्थायी नहीं होता), पर उसकी अन्तरिम रिपोर्ट लेखक की जनप्रियता और सामाजिक स्वीकृति को प्रभावित कर सकती है। यह बात समसामयिक लेखक के लिए कम महत्व की नहीं है, क्योंकि आखिरकार साहित्यकार को मान्यता सामाजिक स्वीकृति द्वारा ही तो मिलती है। पुस्तक समीक्षक की पहुँच अधिक पाठकों तक होती है और उसे अपने पाठकों को अधिक ध्यान में रखना होता है। इसके अतिरिक्त उसके समक्ष समय एवं स्थान की सीमाएँ भी होती हैं, इसलिए उसका कार्य एक स्क्रिप्ट राइटर जैसा हो जाता है। (जो अन्तर स्वतन्त्र लेखक एवं स्क्रिप्ट राइटर में होता है लगभग वैसा ही, स्वतन्त्र समीक्षक एवं रिव्यूवर में भी होता है)। वह एक ओर पुस्तक-प्रदर्शक होता है दूसरी ओर व्यवसाय का एजेण्ट या प्रकाशन का पाठक तथा एक तीसरे और अधिक महत्वपूर्ण स्तर पर पाठकों का विश्वासपात्र होना है जो यह बताता है कि कौनसी पुस्तक एक नीरस यात्रा के लिए उपयुक्त है, किससे रविवार की छुट्टी बिताई जा सकती है और कौन भविष्य में मनासिक हो जाने की सम्भावना रखती है। स्वतंत्र या पेशेवर समीक्षक जहाँ अपनी राय केवल महत्वपूर्ण पर ही देता है (पढ़ना और भी चाहिये) वहां रिव्यूवर को हर प्रकार के नव प्रकाशित साहित्य के बारे में कहना होता है। परन्तु बोध और विश्लेषण की एक जैसी शक्तियाँ दोनों प्रकार के समीक्षकों में अपेक्षित हैं। अन्तर है कि अलग-अलग ढंग से पाठकों से सम्बन्ध रखने के कारण उन्हें अपने-अपने निष्कर्ष पृथक ढंग से उपस्थित करने होते हैं।

बहुधा रिव्यूवर किसी पुस्तक के बारे में अत्यन्त सामान्यीकृत निर्णय दे देता है जैसे कि अच्छी या बुरी है। परन्तु यहाँ उसका एक विशेष दायित्व है। लेखक एक विशेष मूल्य-पैटर्न के संदर्भ में अपनी थीम उपस्थित करता है, रिव्यूवर उसे पहचान कर जब अपने निष्कर्ष निकालेगा तब अनिवार्य रूप से अपने मूल्य-सन्दर्भों को भी उस प्रसंग में मानसिक रूप से लायेगा। अब यदि उसने अपने मूल्य साँचे की तुला पर ही लेखक को तौला तो उसके निर्णय एकांगी हो सकते हैं या पाठक रिव्यूवर अथवा लेखक के मूल्यों से अपरिचित

रह जायेगा। अतः उसे अपने निष्कर्ष इस प्रकार उपस्थित करने चाहिये जिनसे कि पाठकों को दोनों मूल्य-सेटों का ज्ञान हो सके। यह बात इसलिए और भी महत्वपूर्ण है कि लिखित साहित्य साक्षरता का ही एक पहलू है और शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ हमारे यहाँ साहित्य के पाठकों में वृद्धि होगी, अतः अभी चाहे 'रिव्यू' उतनी महत्वपूर्ण न हो, पर आगे उसका महत्व निश्चित रूप से उभरेगा।

बढ़ते हुए पाठक समाज के भी कुछ अपने खतरे होते हैं। सबसे अधिक यह कि यह समाज अपनी संख्या वाली लोकप्रियता के लालच में डालकर बहुधा लेखक को सस्ती चीजें लिखने के लिए पथ-भ्रष्ट कर सकता है। कवि सम्मेलन या बाक्स आफिस हिट के परिणाम हमसे छिपे नहीं हैं, अथवा अत्यधिक प्रबुद्ध तर्कप्रवण पाठक को अचंभे में डालकर उसके तर्कबोध को कुण्ठित करने का प्रयास भी लेखक कर सकता है। इन दोनों अतिवादी स्थितियों में आलोचक एक प्रकार से सेंसर का कार्य करता है। यहाँ पर उत्तरदायित्व सीधे-सीधे साहित्य और उसके माध्यम से व्यापक विकास प्रक्रिया के प्रति होता है।

गत्यात्मक मानवीय परिस्थिति के मध्य साहित्य को एक महत्वपूर्ण पार्ट अदा करना है। विज्ञान ने भौतिक जीवन पर हमारा नियमन स्थापित कराया है, साहित्य हमारे भावात्मक जगत का प्रसार करके, विज्ञान द्वारा उद्भावित ज्ञानखण्डों को भावात्मक मूल्य देकर एक मानवीय संतुलन दे सकता है। साहित्यकारों का इस स्थल पर दायित्व होता है कि वे उन साधनों को खोज सकें जिनके माध्यम से हमारे भीतर और बाहर होने वाली विकास प्रक्रिया में साहित्य अपना पूरा योग दे सके। इस दायित्व का साधारण जन (या पाठक) के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हुए लेजी और स्पाल्डिंग ने जिस बात को कहा है वह पूरे प्रसंग को आलोकित कर देता है, जिन्दगी का एक रास्ता ढूँढ़ते और विकसित करते हुए मनुष्य ने जितने भी मूल्यों को जन्म दिया है, उनमें हम लोगों ने सत्य, कल्पना शक्ति और सामाजिक न्याय को सर्वोच्च स्थान दिया है। लेखक या समीक्षक के लिए इससे अधिक सार्थक और कोई उद्देश्य नहीं माना जा सकता कि वह सामान्य जन को उन मूल्यों के ऐतिहासिक अर्थों एवं भविष्य की सम्भावनाओं को सम्पूर्ण भाव से ग्रहण करा सके, क्योंकि यह मनुष्य के इतिहास—उस इतिहास के जो अभी मात्र प्रारम्भ है—सचेत सृजन की पहली सीढ़ी है।

साहित्यिक लेखन : एक व्यावसायिक समस्या

इधर हिन्दी में लेखक, उसके व्यवसाय, राज्याश्रय के औचित्य आदि पर काफी चर्चा हुई है। अधिकांश बातें कुछ संकीर्ण घेरों के भीतर रह कर कही गयी हैं। ये संकीर्ण घेरे व्यक्तिगत राग-द्वेष के भी रहे हैं, प्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक मतवादों से भी अनुप्राणित हुए हैं तथा व्यक्तिगत होड़ और स्वार्थपूर्ति के प्रयत्न में भी एक दूसरे पर कीचड़ उछालने का प्रयास किया गया है। प्रस्तुत लेखक यहाँ पर इन विवादों और प्रवादों के खण्डन-मण्डन में न जाकर समस्या के मूल को उसके वस्तुगत परिवेश में रख कर देखना चाहता है।

साहित्य-सृजन-प्रक्रिया के मूल में स्वान्त.सुखाय की भावना भले ही विद्यमान हो, (इसके विवेचन में पड़ना यहाँ अप्रासंगिक होगा) पर उसका अन्तिम लक्ष्य श्रोता या पाठक प्राप्त करना ही है। जैसे ही रचना समाप्त हुई कि फिर उसका प्रकाशन सृजन-प्रक्रिया का ही अगला और शायद अन्तिम कदम है; और इस स्टेज पर लेखक पसन्द करे या न करे उसने एक वस्तु (Commodity) का उत्पादन किया है जिसे कि उसे अन्य वस्तुओं के समान ही बाजार में भेजना है। (यह बात दूसरी है कि लेखक इतना धनी हो कि अपनी इस उत्पादित वस्तु को वह मुफ्त में ही वितरित कर दे।) आज उसकी इस उत्पादित वस्तु का यदि बाजार-मूल्य (Market Value) नहीं है तो फिर वह इस युग के साहित्यिक उत्पादन का अंग नहीं बन सकती। इस के विपरीत यदि विज्ञान के क्षेत्र में कोई नयी खोज हुई हो तो उसका प्रकाशन बिना किसी मार्केट-वैल्यू के प्रश्न के हो जायगा; भले ही उसका कोई व्यावहारिक प्रयोग फिलहाल सम्भव न हो। यह स्थिति साहित्य-सृजन को प्रभावित करती है। कहना यों चाहिये कि आज का साहित्य इस मार्केट-वैल्यू की चलनी में छन कर आता है।

ऐसी अवस्था में मन में अनेक प्रश्न उभरते हैं—इस सबका प्रभाव लेखन की विषय-वस्तु पर क्या पड़ता है ? स्थायी साहित्य के कौन से स्वरूप इस अड़चन के कारण जनता तक नहीं पहुँच पाते ? सामान्य पाठक वर्ग और समीक्षक (जो स्वयं एक प्रबुद्ध पाठक होता है) पर इसका प्रभाव क्या पड़ता है ? ऐसे प्रश्न मन में उस समय तत्काल उभरते हैं जब कोई व्यक्ति

आधुनिक साहित्य के स्वरूप पर विचार करने बैठता है। क्योंकि ये [illegible] साहित्य-सृजन के नियामक तत्व (Conditioning Factors) हैं। अतः यह जो जनप्रिय साहित्य है, जिसकी माँग होती है क्या उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि इसमें उन लेखकों का प्रयास है, जो इस बिकने वाली वस्तु-प्रवृत्ति (Commodity view) से ऊपर उठ कर स्वस्थ पैसे के बजाय साहित्य के उच्चतर और व्यापक मूल्यों के लिए संघर्ष करते हैं। इस बात के उत्तर के द्वारा यह माना जा सकता है कि वर्तमान युग का साहित्य कहाँ तक वर्तमान युग की मूल विशेषताओं का प्रतिबिम्ब है और उसका चित्रण,ढंग इस व्यापारी युग की जनप्रिय माँगों के द्वारा यथार्थ का विज्ञापित किया हुआ रूप है? हमारा अनुमान है कि आधुनिक साहित्य का एक बड़ा अंश यथार्थ का चित्रण न होकर स्फीतीकरण-प्रक्रिया का परिणाम है।

हम बहुधा अध्यापन, डाक्टरी, वकालत आदि पेशों, यहाँ तक कि अब वैज्ञानिक पेशे (अखिल भारतीय प्रशासनीय सेवाओं की भाँति वैज्ञानिक सेवाओं के भी गठन की बात चल रही है) के सन्दर्भ में यदि लेखन-व्यवसाय को रखकर देखें तो शायद बात और अधिक स्पष्ट हो सके। इन व्यवसायों में कुछ व्यक्ति लगे होते हैं जो अपना पूरा समय इन्हें देते हैं और इनसे अपनी जीविका कमाते हैं। इन सब लोगों की कुछ निर्धारित न्यूनतम योग्यताएँ होती हैं जिनको पूरा किये बिना वे उस व्यवसाय में प्रवेश नहीं पा सकते। यदि इन व्यवसायों में लगे व्यक्तियों से उनके कार्य के महत्व और रचनात्मकता के बारे में प्रश्न किए जाएँ तो इनमें से प्रत्येक सरलता के साथ यह कह सकता है कि उनमें से हर एक ज्ञान के क्षेत्र का विस्तार करता हुआ, अनुदिन विकसित मानव-समाज के मानसिक, शारीरिक रूप को विकसित एवं परिवर्तित कर रहा है, समाज के दृष्टिकोण को प्रगतिगामी बना रहा है या सामाजिक जीवन के ढाँचे में एक परिवर्तन ला रहा है।

परन्तु लेखक किसी न्यूनतम योग्यता को प्राप्त करके उस प्रकार लेखक नहीं बन सकता जैसे कोई एल-एल० बी० या एम० बी० बी० एस० करके वकील या डाक्टर बनता है। कौन लेखक बने या न बने इस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जिसके भी मन में कोई चीज प्रकाशित होती है वही लेखक बन सकता है, परन्तु इससे जिस बात की ही पुष्टि होती है कि [illegible] का [illegible] के रूप में [illegible] है। [illegible] देख लेना चाहिए कि [illegible] के [illegible] पूरा करके [illegible] (जैसे [illegible] सम्पादकों, पुस्तक-व्यापारियों), [illegible] एवं [illegible] की [illegible]

अपेक्षाकृत कम है। अन्य व्यवसायों में लगे लोग अपने अवकाश के क्षणों में कुछ लेखन कार्य भी कर लेते हैं। इस प्रकार लेखन या साहित्य-सृजन ना की जो एक सामाजिक क्रिया है वह एक ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण भूमि है जिसमें प्रत्येक अपना ज़ोर दिखा सकता है। इस तरह इस समय एक निश्चित अ में लेखन-व्यवसाय का अस्तित्व नहीं के बराबर है।

पर एक और महत्वपूर्ण तथ्य है कि साहित्य-सृजन के कार्य में व्यवसा बनने के बीज विद्यमान हैं, क्योंकि जनता कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी प्रका के साहित्य की माँग अवश्य करती है; तथा समाचार पत्रों, रेडियो, फ़िल्मों नाट्य मण्डलियों आदि के साथ सम्बन्धित तथाकथित बहुत से लेखक लोग भी इसके प्रमाण हैं। किन्तु फिर भी लेखन वैसा ही व्यवसाय नहीं बन सक जैसे कि अन्य हैं। वास्तव में कोई भी क्रिया तब तक एक सुसंगठित व्यवसा का रूप धारण नहीं कर सकती जब तक कि उसके लिए आवश्यक सामाजि दबाव न हों; तथा ये दबाव निर्भर करते हैं उस व्यवसाय के अन्ततः विक सित होने वाले आकार पर। इस सम्बन्ध में लेवी और स्पालिंडग ने विज्ञा के व्यवसाय बनने का अत्यन्त रोचक उदाहरण दिया है। उनके अनुसा १९वीं शती तक विज्ञान भी साहित्य की भाँति ही एक अवकाश के क्षणों में किया जाने वाला कार्य था (जिसे कि कुछ सनकी लोग ही किया करते थे। जिससे किसी प्रकार के आर्थिक लाभ की आशा नहीं की जा सकती थी औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप धीरे-धीरे व्यापारी वर्ग सामने आने लगा पर उस सामंती वातावरण में इस सद्यः धनिक बने वर्ग का मान बहुत नह था। अपनी सामाजिक मर्यादा को बढ़ाने के लिए जहाँ एक ओर उन्हों प्रजातन्त्र आदि की पुकार उठायी वहीं विश्व-विद्यालयों आदि को प्रभूत दा देकर अपनी मर्यादा को ऊपर उठाना चाहा और इसके फलस्वरूप विज्ञा आगे बढ़ा है। उस समय तक विज्ञान, यन्त्र और उद्योग का परस्पर सम्बन् स्थापित नहीं हो सका था। जब युद्ध, उद्योग और व्यापार-क्षेत्र में विज्ञान क उपयोग हुआ तभी उसे वह सामाजिक मान्यता मिल सकी जिसके फलस्वरू एक व्यवसाय के रूप में उसका विकास सम्भव हो सका और आज तो य स्थिति है कि विज्ञान की किसी भी खोज के लिये सरकार और प्राइवेट संस्था मुक्त हस्त दान देती हैं चाहे उससे कोई तात्कालिक लाभ न भी हो रहा हो क्योंकि उसके विकास में एक उपयोग की सम्भावना छिपी हुई है। अग उद्योग के साथ विज्ञान का सम्बन्ध न जुड़ गया होता तो कहा नहीं जा सक कि उसका क्या हश्र हुआ होता ? इस प्रकार जिज्ञासु की बौद्धिक संतुष्टि, औद्यो गिक-व्यापारिक उपयोग, सामाजिक कल्याण और संहार में उसकी प्रयो

मीयता ने आज के वैज्ञानिक प्रोफेशन को उसका वर्तमान स्वरूप, प्रा
प्रदान की है। भारत में यह प्रक्रिया और देर से हुई है। स्वतन्त्रता के
वैज्ञानिक व्यवसाय ऊपर आ सका है। साहित्य के क्षेत्र में ऐसा नहीं हो
साहित्य विदेश में भी और हमारे देश में भी या तो अन्य कार्यों में लगे
की हॉबी के रूप में रहा है या फिर सामन्तों के आश्रय में कवि रहते रहे
हिन्दी-साहित्य में इसके अनेक उदाहरण प्राप्त होंगे। आदि काल के
राजा के आश्रित ही थे चाहे वे चन्द हों या विद्यापति। भक्ति-काल का
भक्त पहने या तथा कविता उनका बाई-प्रोडक्ट थी जिसे वह अपना व्यवसा
कभी नहीं बनाता। कुछ राजा या सामन्त भी शौकिया कविता करते
जैसे रहीम या 'वेलि क्रिसन' के लेखक पृथ्वीराज। रीतिकाल के अधिकां
कवि या तो राजाओं के आश्रय में थे या फिर वे भक्त थे—मन्दिरों और सम्प्र
दायों से सम्बन्धित थे।

१९वीं शती के उत्तरार्ध में ऐसी स्थितियाँ आयीं जिनमें कि संगठित
व्यवसाय के रूप में उसका उदय सम्भव था। कागज का उत्पादन बढ़ा, छपाई
की व्यवस्था हुई, यातायात की सुविधाएँ मिलीं। फिर इनके साथ-साथ
शिक्षा का प्रसार प्रारम्भ हुआ। परिणामतः पुस्तक बिक्री और उसके
साथ-साथ इन पुस्तकों के लिखने वालों के लिये एक व्यवसाय की सम्भावना
पूरी तरह उपस्थित हो गयी।

पर यह नया उदित होता हुआ व्यवसाय दो बातों से नियमबद्ध
(Conditioned) हो रहा था। लेखक किस वर्ग से लिये जाएँ तथा व्यापार
की आवश्यकताएँ क्या हैं? इस समय के पूर्व तक लेखकगण व्यापक सामान्य
जनता के बीच से न आकर एक छोटे से वर्ग विशेष से आते थे। भक्त कवि
इसका अपवाद था, परन्तु इससे हमारी स्थापना में कोई अन्तर नहीं आता,
क्योंकि वह अपने धार्मिक मतवाद या अपने इष्टदेव से "इतना अभिभूत हो
उठता था कि उसे सामान्य जन की आशा-आकांक्षाओं को प्रधानतया वस्तुगत
रूप से अभिव्यक्त करने की बात ही याद नहीं आती थी—हाँ उसने प्रारम्भ
में जन-भाषा का सहारा अवश्य लिया पर धीरे-धीरे वह भी एक प्रकार की
अर्द्धधार्मिक, साहित्यिक रूढ़ भाषा में पहुँच गया था; तथा रीति-काल के
कवियों का तो लक्ष्यीभूत श्रोता भी एक सीमित वर्ग ही था जिसके कारण
उनका लक्ष्य और रूप सभी कुछ प्रभावित होता रहा। पर नयी परिस्थितियों
में लेखन का द्वार एक व्यापक जनवर्ग के लिए उन्मुक्त हुआ और उसका प्रभाव
अनिवार्य रूप से साहित्य पर पड़ा है; क्योंकि साहित्यकार साहित्य होगा
वर्ग की ही उपज है—यों अन्य भावन मग्न वर्गों के लोग भी कर सकते हैं—

यह दूसरी बात है कि वर्ग-विभिन्नता होने हुए भी उनमें समानता के तत्व कम नहीं होते।

दूसरा तथ्य ऊपर व्यापारिक आवश्यकता का कहा गया है। व्यापार के अपने नियम, तर्क और प्रयोजन होते हैं जिनका प्रभाव वह अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक तथ्य पर छोड़ता है। जब लेखन शब्द से छपे हुए अक्षर तक पहुँचता है तो व्यापार के सम्पर्क में आता है। व्यापार का प्रयोजन लाभ है और इसी कारण उसका तर्क या नियम है कि उन वस्तुओं को खोजो जो सबसे अधिक विक्रय शील हों। यह खोज साहित्यिक वस्तुओं का व्यापारी साहित्य में भी करता है। व्यापार की प्रक्रिया सीधे-सादे खरीद-फरोख्त से आगे बढ़ कर फाइनैन्सिंग और उत्पादन के संगठन तक पहुंचती है। व्यक्ति-कारीगर की चीज खरीद कर बाजार पहुँचने से व्यापार प्रारम्भ करता है और फिर उसके स्थान पर मशीन की स्थापना करके या उस कारीगर के काम की दिशा को बदल कर मशीनीकृत परिनिष्ठित (Standardized) वस्तु का उत्पादन कर उसे उपभोक्ता तक पहुँचाता है। यह वास्तव में व्यापार की आन्तरिक संगति है। उसके अर्थशास्त्र की अनिवार्यता है। इसका प्रभाव लेखन पर क्या पड़ता है यह हमे देखना है?

यहाँ पर यह ध्यान में रखने वाली बात है कि लेखन कभी भी एक मशीनीकृत उद्योग नहीं बन सकता। वह तो विचार, अनुभव और भावना की उपज है जो मशीन में कभी नहीं आ सकते। परन्तु (लेखन) वस्तु-सृजन के जितने पक्ष को मशीनों के उपयोग के लिए कब्जे में लाया जा सकता है उसने को व्यापार अपने अधिकार में करने का प्रयास करता ही है। व्यापारी इस बात की खोज कर सकता है कि कौनसी वस्तु अधिक बिकेगी और कौन कम। यही नहीं, वह इसकी भी खोज करता है कि बाजार को, उत्पादित वस्तु के खपाने के लिए, कितना मोड़ा जा सकता है। पहली स्थिति वर्तमान मांग को सन्तुष्ट करने की होती है और दूसरी पठन-पाठन रुचि को इस प्रकार निर्देशित करता है कि वह एक विकसित होते हुए बाजार को निरन्तर सम्हाले रह सके। इस प्रकार व्यापार का संसार बलात्मक अभिरुचि को बनाता भी है। इसके लिए विज्ञापन, प्रलोभन, प्रचार किया जाता है। जन-मस्तिष्क पर, इस प्रकार, दबाव डालकर उसके मौलिक स्तर और गुण को प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है।

फिर लेखन ही नहीं इस व्यापारिक युग के मूल्यों का प्रभाव लेखक पर भी आवश्यक रूप से पड़ता है। जिस युग में पैसा ही सारे

मान सम्मान, सामाजिक मर्यादा और सुख का मापदण्ड हो, उस युग का लेखक भी इस अर्थ-मूल्य से प्रभावित होता ही है।

एक और अन्तर्विरोध यहीं पर कह देना उचित होगा। लेखक एक संगठित व्यवसाय के सदस्य फ़िलहाल नहीं है। (शायद भविष्य के आर्थिक दबाव में हो सकें) इसलिए अपने सदस्यों पर कोई नियम, लेखन क्षमता या पारिश्रमिक के बारे में नहीं लगा सकते। ये लेखक भी मनुष्य हैं और इनमें मानवोचित दुर्बलता भी स्वाभाविक ही है। अतः अर्थ की पुकार पर इन लोगों ने समर्पण किया है। ऐसी कहानियाँ को लिखा जो बाजार में बिक सकें। उन्होंने ऐसे निबन्ध लिखे जो अखबारों में छप सकें। एक बारगी उन्होंने उस वस्तु की रचना शुरू की जो प्रेसों में सुनाई जा सके। दैनिक अखबार का पेट भरना है, उसके लिए कुछ सनसनीखेज़ आकर्षक समाचार या टाइटिल देना है। मासिक या पाक्षिक पत्र के सम्पादक के अनुरोध (या आज्ञा) पर व्यंग्य लिखना है अथवा किसी कवि के बसन्त-वर्णन को देना है या एक चटपटी मोहक कहानी लिखनी है। फिर रेडियो है जहाँ से पहले ही से वार्ता या कहानी का विषय आपके पास आता है जिसमें आपको कुछ निर्देश भी दिए गए होंगे। सूचना-विभाग किसी सरकारी काम की तारीफ़ में नाटक लिखवाने का आयोजन कर सकता है या फिर सिनेमा का सुभावना आकर्षण है। तात्पर्य यह कि एक लम्बा, चौड़ा सुसंगठित पाठक बाज़ार है जिसके लिए सामान बनाने वाला लेखक होना चाहिए पर जिसे बेचने की अनेक एजेन्सीज़ हैं। जाहिर है कि यह सब एक ऊंचे दर्जे के लग्न कौशल की मांग करते हैं। कलात्मक वस्तु पर यहाँ ज़ोर नहीं होगा, और टेक्नीक पर होगा। इस प्रकार लेखक व्यवसाय के एक हिस्से को एक प्रकार के मेकेनाइज्ड ट्रेड में बदल दिया जाता है इस व्यापारवाद से लेखकों पर पहला प्रभाव यह होता कि उनका सृजन-कार्य आर्थिक लाभ को दृष्टि में रख कर होने लगा तथा दूसरा इससे भी अधिक भयानक प्रभाव यह पड़ा कि लेखक-वर्ग दो हिस्सों में बट गया—एक वर्ग तो वह जो इस अर्थ को दृष्टि में रखे बगैर उतना ही लिखता है जितना कि वह अनुभव करता है अथवा जितना विचार या भावना उसे कहने या लिखने के लिए विवश करती है। उनके बाज़ार-मूल्य को वे ध्यान में नहीं रखते। ऐसे लोगों को लिखने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य करना आवश्यक हो जाता है। पर इनके लेखन को भी तो बाज़ार में आना चाहिए तथा यदि हम पिछले वर्षों के प्रकाशित काव्य-संग्रहों को देखें तो ज्ञात होगा कि लेखकों ने स्वयं अपने पैसों से उन्हें छपवाया है अपने ही नाम किसी कल्पित प्रकाशक का दे दिया गया हो यानी ठीक वैसे

साहित्य को प्रकाश मे माना भी कठिन हो गया है। (दूसरा वर्
वैल्यु के लिए लिखने वाला बन गया जो कि विक्रयशील वस्तु की टे
ही सजाता रहता है।) ऐसे लोगों का साहित्य मैकेनाइज नही हो
एक फार्मूले में उसी प्रकार नहीं बदला जा सकता जैसे कि फिल्मी क
बदला जाता है। यदि ऐसा सम्भव होता तो कविता आज इतनी
न होती हमारे प्रकाशको का विज्ञापन-विभाग जनता को काव्य-प्रे
दिए होता। पर काव्य ऐसी साहित्य-विधा है जो सबसे कम किसी
मे ढाली जा सकती है—इसी लिए उसके प्रकाशन और प्रचार की
सबसे कम ध्यान है।

स्पष्ट है कि ऐसा साहित्यकार इस स्थिति मे वही व्यक्ति हो
है जो सरकारी नौकर हो, अध्यापक हो, डाक्टर हो, वकील हो (
अथवा कोतवाल हो) यानी कि जीविका का कोई न कोई जरिया ज
यह भी हो सकता है कि वह अपने लेखन का कुछ हिस्सा कलम घसी
को दे, पर यहां खतरा यह है कि धीरे धीरे साधन कहीं साध्य न ब
और केवल टेक्नीक-क्षमता मात्र ही शेष रह जाय। हिन्दी मे इस
उदाहरण हैं, नाम न लूंगा क्योंकि मेरी खोपड़ी इतनी मजबूत नह
फिल्म मुख्यतः और रेडियो गौणतः इसका प्रमाण उपस्थित करेंगे।
रेडियो, सिनेमा, समाचारपत्र के लेखक उसी प्रकार टेक्नीशियन है जैसे
इन्जीनियर, कैमरामैन या कम्पोज़ीटर अथवा मशीनमैन।

यानी कि सृजनात्मक लेखक का आज की आर्थिक व्यवस्था
अपना व्यवसाय नहीं है। परन्तु उन्हें एक सामाजिक प्रयोजन की पू
ही है। एक लेखक के शब्दों मे "जब तक मनुष्य एक दूसरे को स
प्रयास करेगा तथा जीने का एक सन्तोषजनक रास्ता ढूंढेगा,
मनुष्य को विचलित करने वाली समस्यायें हैं तब तक ऐसे व्यक्ति होते
जो ऐसी समस्याओं से-उन्हें स्पष्ट करने के लिए लिखित शब्द के म
—संघर्ष करेंगे, प्रयोग करेंगे। रास्ता लम्बा होगा, मलाभकर होगा,
के लिए सामाजिक मर्यादा भी देने वाला न होगा पर यह रास्ता नि
भावना की ईमानदारी अवश्य चाहेगा। लेकिन यह भी ध्यान मे रख
अन्ततः मानवीय समस्याओं का समाधान होगा ही। लेखन व्यवसा
स्थिति चिरकालिक नहीं है। जीवन-प्रक्रिया के और अधिकविकास के सा
मे परिवर्तन होगा। इस विकास का एक पक्ष आर्थिक मानदण्डों से
के मूल्यांकन को बचाना भी होगा। व्यापार जगत से स्वतन्त्र सा
अनिवार्यतः मानवीय प्रयोजन है। "सभी दिशाओं मे सामाजिक

का संघर्ष ऐसे प्रश्नों की ओर भी ध्यान ले जायगा और तब ऐसे कदम अवश्य उठाए जावेंगे जिनमे कि साहित्य का प्रकाशन अन्य माध्यमों से हो सकेगा जैसा कि आज के वैज्ञानिक साहित्य मे होता है और तभी समाज के एक उस बड़े वर्ग को भी लेखन क्षेत्र मे आने के लिए प्रोत्साहन मिल सकेगा जो अभी तक अछूता अस्पृष्ट पड़ा है।

यहीं पर हम इस धारणा को निरर्थक कह देना चाहते हैं कि लेखक संघर्षों, अभावों और कठिनाइयों मे ही प्रभावकर लिख सकता है तथा कोई प्रोत्साहन उसकी क्षमता को नष्ट कर देगा। परिस्थितियां उसके जीवन को सापेक्ष गति से प्रभावित करती हैं और यह एक स्वतंत्र अध्ययन का विषय है कि परिस्थितियों ने किन लेखकों को प्रोत्साहित किया एवं किन्हें हतोत्साहित या बाधित किया। यह परिस्थितियां क्या हैं, क्या हो सकती हैं और उनका प्रभाव क्या हो सकता है यह सावधानी पूर्वक निरीक्षण और अध्ययन का विषय है। इतना हम लोगो ने देखा ही है कि किस प्रकार की बाजार-स्थिति ने लेखक को उकसाया कि वह अपने अधिक महत्व पूर्ण दायित्व को छोड़कर बाज़ार की संतुष्टि के लिए उसने लिखे। अतः हमारे विचार से लेखकों को सक्रिय प्रोत्साहन इस विषय मे मिलना चाहिए कि वे बाजार की चिन्ता किये बिना मानवीय सत्यों की खोज मे अधिक गहरे जा सकें; उसी प्रकार जैसे कि पदार्थ सत्यों का पता लगाने के लिए। वैज्ञानिक प्रोत्साहित किये जाते हैं।

हमारी वर्तमान व्यवस्था में स्पष्ट रूप से ऐसी सामाजिक, आर्थिक शक्तियां काम कर रही हैं जो मानव-शक्ति के एक बड़े भाग को वैज्ञानिक यान्त्रिक उपलब्धियों की दिशा में मोड़ देती हैं तथा समाज को उनके प्रति सचेत-सजग भी रखती हैं। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यहीं वर्तमान समाज का असंतुलित दृष्टिकोण उभर आता है। जीवन के एक क्षेत्र (विज्ञानादि) में इतनी अतिरिक्त बौद्धिक सजगता है, पर कला-साहित्य के प्रति भयंकर उपेक्षा का भाव है। कला-मूल्यों के प्रति नितान्त दरिद्र भाव समसामयिक जीवन में प्राप्त होता है।

जिन समस्याओं का समाधान नितान्त आवश्यक है पर हैं उपेक्षित; वस्तुतः वे सभी सामाजिक समस्याएँ हैं और इसीलिए मानवीय हैं। यहीं पर लेखक, साहित्यिक की आवश्यकता और दायित्व सामने आते हैं। यह दुर्भाग्य की बात है कि लेखक समाज से आज प्रोत्साहन नहीं पाता और जहाँ पर कुछ प्रोत्साहन है भी वह शक्ति को गलत मार्गों पर ले जाने वाला है या फिर उस प्रोत्साहन को शिथिल व्यवहार द्वारा व्यर्थ भी कर दिया जाता है। जैसे कि हमारे देश में आज चित्र-कला या संगीत सीखने के लिए कुछ छात्रवृत्तियों आदि का प्रबन्ध

है। छात्र जिस समय अपने जीवन के कुछ निर्माणकारी वर्षों को इस कला शिक्षा में लगा कर बाहर आता है तो देखता है कि किसी ऐसे व्यवसाय या कैरियर का अभाव है जहाँ वह अपनी प्रतिभा का उपयोग कर सके। परिणामतः या तो वे अस्थायी कार्य करते फिरते हैं या फिर कहीं अधिक स्थायी अन्य कार्यों या व्यवसायों में प्रवृत्त हो जाते हैं। अपने देश में ही साहित्य-अकादमी या ललितकला अथवा संगीत-नाटक-अकादमियाँ बनाई गयी हैं—ऊपर से देखने में यह सब कला-साहित्य आदि को प्रोत्साहन देने के समान है पर वास्तव में इनमें केवल पिष्टपेषण का कार्य होता है। जिन लोगों को अपने-अपने क्षेत्रों में प्रतिष्ठा और स्वीकृति मिल चुकी है उन्हें ही इन अकादमियों द्वारा पुरस्कृत-सम्मानित या प्रकाशित किया जाता है, संघर्ष में डूबे हुए—जिनके मार्केट-वैल्यू की ओर बहक जाने का डर है ऐसे तरुण प्रतिभाशाली लेखकों-कलाकारों की वहाँ कोई भी पूछ या पहुँच सम्भव नहीं है। यदि विश्वविद्यालयों की ओर आइए तो स्थिति और भी अधिक भयंकर मिलेगी पुराना सिक्का बनाकर साहित्य को स्वीकार (recognise) किया जाता है। अपवादों की बात यहाँ पर और अधिक मैं नहीं करता पर सामान्य तौर पर हिन्दी का अध्यापक नयी प्रतिभाओं नए साहित्य एवं नवीन परिस्थितियों के प्रति नितान्त अप्रबुद्ध है। जहाँ कहीं भी इन विद्यापीठों के प्रबल दबावों से बचकर कुछ व्यक्ति इनमें अध्यापक-पदों पर आ सके हैं उन्हें इस दबाव का अनुभव होता होगा कि वे अपने-अपने विभागों में किस प्रकार अपधर्म हैं, सारी शैक्षिक परम्पराओं, साहित्यिक मानदण्डों के हत्यारे माने जाते हैं। इसका परिणाम प्रबुद्ध जनों से छिपा नहीं रह सकता।

कारण स्पष्ट है, केवल पुरानी मान्यताओं से चिपटे रहने वाला नये जीवन के अनुरूप व्यक्तित्व का कोई विकास नहीं कर सकता। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि ऐसे अच्छे-अच्छे विद्यार्थी जो प्रथम श्रेणी में पास होकर आते हैं जब नये साहित्य के सम्पर्क में आते हैं तो कुछ भौंचक्के से रहकर या तो बगैर पूरी तरह समझे इसकी निन्दा प्रारम्भ कर देते हैं या फिर तुलसी, सूर तथा बिहारी के खोल में विश्राम करने लगते हैं जहाँ इस संवेदन की गंध भी न पहुँच सके। केवल एक छोटा सा प्रतिशत (मुख्य रूप से सृजनशील लेखकों का) बच जाता है जो इस संवेदन को निष्ठापूर्वक समझने, ग्रहण करने का प्रयास करता है। वास्तव में यह एक मुख्य कारण है जिसके कारण नये साहित्य के समीक्षकों में से अधिकांश सृजनशील लेखक हैं।

हमारे विश्वविद्यालयों में निराला, महादेवी या सुमित्रानन्दन पन्त पर पी-एच० डी० प्राप्त की जा सकती है पर वे इस उपाधि के योग्य न

न समझे जावेंगे (इससे इन लेखकों का गौरव न बढ़ेगा, मैंने केवल इस दिशा की ओर इंगित किया है) यहाँ तक कि यदि इन विद्यापीठों का कोई साहित्य का अध्यापक *सृजनशील कार्यों में भी लगा हुआ है तो उसे सृजन-कार्य के* लिए उनके अधिकारियों से किसी प्रकार का अतिरिक्त सम्मान या लाभ नहीं मिलता है, बल्कि एक बड़ी सम्भावना इस बात की है कि अवमानना मिले। *समस्त साम्प्रतिक साहित्य में नया महत्वपूर्ण जोड़ने वाला विश्वविद्यालय-क्षेत्र* के बाहर है; जो कुछ पहले से विद्यमान है उसी का विश्लेषण, मूल्यांकन, समीक्षा, सम्पादन या पुनर्व्याख्या ही उसके भीतर है। और इस प्रकार के *लेखकों के लिए विश्वविद्यालयीय अध्यापन रेडियो या फिल्मी या क्लर्की* से किसी क़दर अच्छा नहीं है। उन्हें यहाँ भी अपनी प्रतिभा के उचित प्रयोग के स्थान पर उसी घिसी-पिटी पद्धति पर अनुशासनपूर्वक आगे कदम बढ़ाना होगा *जैसा कि अन्य विद्यार्थी या विशुद्ध अध्यापक* करते हैं। मैं नहीं जानता कि सिद्ध-साहित्य लिखकर भारती ने ज्ञान एवं मानवीय सत्य और खोज को अधिक आगे बढ़ाया है या इतना ही परिश्रम करके लिखे गए किसी रचनात्मक साहित्य के माध्यम से आगे बढ़ता। सृजनशील लेखक के लिये ऐसा साहित्य (Hack writing) दी है। लेखक चाहे भारती हों या बच्चन, शिवमंगल सिंह हों या नीरज, मोहन राकेश हों या शिवप्रसाद सिंह। अपने ऐसे लेखन में किस प्रकार गिरिजाकुमार, इलाचन्द्र जोशी, नेपाली, प्रदीप या अन्य व्यवसायिक लेखकों के व्यवसायिक लेखन से किन अर्थों में ये लोग श्रेष्ठ हैं, यह विचार का विषय है। यहाँ पर दोनों वर्गों के व्यावसायिक लेखन की बात *मैं कर रहा हूँ, श्रेष्ठ मूल्यों वाले वास्तविक लेखन के बारे में नहीं।*

वास्तव में आवश्यकता इस बात की है कि एकेडेमिक अध्ययन और जीवन्त लेखन एवं विचार धाराओं के संयोजन एवं सम्मिलन पर ध्यान दिया *जाय। सृजनशील लेखक एवं नवलेखन को ही महत्व न मिले,* समीक्षा की नयी प्रणालियों, आकलन की नयी पद्धतियों एवं मानदण्डों का भी भरपूर उपयोग विश्वविद्यालयों द्वारा होना चाहिए। क्योंकि इस क्षेत्र में *भी इनका प्रत्याशित नेतृत्व अब पिछड़ने लगा है।* यहाँ पर मैं राजेन्द्र यादव और साही *के विवाद में नहीं जाना चाहता, परन्तु सम्प्रति कुछ अपवादों को छोड़कर यदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने वाले श्रेष्ठ आलोचनात्मक *निबंधों को लिया जाय* तो एक बड़ी संख्या ऐसे लेखकों की मिलेगी जो

*'सुप्रभात' के कुछ अंकों में राजेन्द्र यादव एवं विजयदेवनारायण साही के मध्य "विश्वविद्यालयीय समीक्षा" के प्रदेप पर वैचारिक संघर्ष *हुआ था।*

विश्वविद्यालयों से या तो सम्बन्धित नहीं हैं या फिर वहां पर उनकी स्थिति नगण्य है। यह पूछा जा सकता है कि अपने विकसित समीक्षानुभव के बावजूद विश्वविद्यालयों में प्रतिष्ठित समीक्षकों ने कितना और कितने प्रभाव के साथ इस बात को आलोकित करना चाहा है कि आज क्या हो रहा है? कब उन्होंने नवीन आलोक में पुरानी कृति का मूल्यांकन करना चाहा है—अज्ञेय या रेणु के संदर्भ में प्रेमचन्द के महत्व को कितने लोगों ने आकलित करना चाहा है? अथवा विकास मान धारा को एक ऐसे आलोचनात्मक क्रम में जो एक साथ भूत और वर्तमान है क्या उन्होंने करना चाहा है। साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यों को आज की चेतना के रचनात्मक सहयोग में स्थापित किया जाना चाहिए।

आज विश्वविद्यालयों से अनेक ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन होता है जिन्हें सामान्य प्रकाशक कभी नहीं छापना पसन्द करता क्योंकि सामाजिक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में मूल्यवान होते हुए भी उनका विक्रय मूल्य लाभप्रद नहीं है। इसी प्रकार उन रचनात्मक कलात्मक कृतियों (Creative literature) को भी प्रकाशन मिलना चाहिए। यह कार्य विश्वविद्यालयों एवं अकादमियों जैसी संस्थाओं के द्वारा ही होना चाहिए।

जिस प्रकार विज्ञान हमारे चतुर्दिक् विस्तृत भौतिक संसार के प्रति सचेतनता सजगता तथा ज्ञान लोक को देता है उसी प्रकार से वास्तविक सर्जनात्मक साहित्य भी मानवीय सम्बन्धों का गहरा ज्ञान और उनमें भी जो सबसे अधिक गहन महत्व के होते हैं उन्हें लोक को देता है। फिर क्यों वैज्ञानिक के लिए दिन-दिन आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था होती जा रही है और लेखक के लिए नहीं। उसे वह सामाजिक मर्यादा भी नहीं प्राप्त होती जो वैज्ञानिक को प्राप्त होती है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है अन्तर यह है कि विज्ञान केवल सृजनात्मक ही नहीं है उसे आर्थिक लाभप्रद कार्य के लिए उपयोग में लाया जा सकता है। परन्तु एक बात ध्यान में रखने की है कि अधिकांश वैज्ञानिक विज्ञान के सामाजिक उपयोग का फल प्राप्त नहीं करते। एलेक्ट्रो, मैगनेटिक सिद्धान्त के द्वारा सूर्य के धब्बों का अध्ययन करते-करते यदि रेडियो, टेलीविजन या रैडार बन गया तो उस सिद्धांत के आविष्कर्ता वैज्ञानिक की अपेक्षा उसके निर्माता ([illegible]) को अधिक लाभ होता है। इस प्रकार वैज्ञानिक [illegible] रह कर अपना काम कर सकता है, और [illegible] गहरा प्रभाव भी नहीं पड़ता, परन्तु जब [illegible] के [illegible] बनती तो उसकी टेकनीक और [illegible] है अतः यह

स्थिति उसके लिए भयावनी है। एक और बात स्पष्ट है कि कोई वैज्ञानिक किसी नये सत्य की खोज निर्द्वन्द्व होकर कर सकता है और उसको बराबर प्रोत्साहन मिलता जायगा, पर यदि लेखक ने मानवीय सम्बन्धों के किसी अप्रिय नये सत्य की ओर इशारा कर दिया तो उसे परम्परा आदि के नाम पर निन्दा मिलेगी। एक लेखक शब्दों मे "Truth in science can be commercially useful. Truth in literature can not always be." परन्तु व्यापार सम्पूर्ण सत्य से (Concerned) न होगा, पर मनुष्य तो है अतः इसका समाधान भी आवश्यक है।

अस्तु, साहित्य का यदि व्यापारिक उपयोग न भी हो सके, तब भी ऐसी समस्याओं का समाधान आवश्यक है, क्योंकि व्यापार सम्पूर्ण सत्य से सम्पृक्त नहीं होता, पर साहित्य सम्पूर्ण सत्य से सम्पृक्ति रख कर ही अस्तित्व लाभ करता है। लेखन व्यवसाय न बने यह अच्छा है, पर लेखक को व्यवसाय की सुरक्षा मिलनी ही चाहिए।

ऐतिहासिक उपन्यास

'उपन्यास' शब्द कहने मात्र से हिन्दी का सामान्य पाठक एक विशेष प्रकार के साहित्य-रूप का बोध कर लेता है। वह उपन्यास पढ़ता है—उसका विश्लेषण नहीं करता। परन्तु प्रबुद्ध पाठक विवेचन-विश्लेषण करता हुआ उसमें विशेषण जोड़ता या सज्ञायें देता है। इसी क्रम में उपन्यास के जो अनेक रूप विश्लेषित हुए हैं, उनमें से एक ऐतिहासिक उपन्यास है—यानी कि उपन्यास तो अवश्य पर ऐतिहासिक विशेषण के साथ। इसी स्थल पर प्रश्न उठते हैं कि ये दोनों शब्द, इतिहास और उपन्यास, कहाँ तक सबधित हैं, इनकी मर्यादायें क्या हैं तथा सीमा-रेखायें कहाँ मिटती हैं? कारण, यदि उपन्यास की एक सामान्य धारणा पाठक के मन में होती है तो इतिहास के स्वरूप का भी उसे पृथक् रूप में आभास रहता है। इतिहास मानवीय गतिविधि (Human activities) का वैसा ही एक प्रकार है जैसा कि समाज-शास्त्र अथवा गणित-विज्ञान। ऐसी स्थिति में एक प्रश्न और उठता है कि यदि मानवीय गतिविधि (Human activities) का एक प्रकार उपन्यास के साथ विशेषण के रूप में आ सकता है तो अन्य प्रकार क्यों नहीं आ सकते? दूसरे शब्दों में ऐतिहासिक उपन्यासों की भांति ही दार्शनिक, समाज-शास्त्रीय या गणित-विज्ञानीय उपन्यास क्यों नहीं हो सकते? परन्तु एक निष्कर्ष की ओर संकेत अवश्य करना चाहूँगा : इतिहास उपन्यास के लिए अधिक सहायक है बजाय अन्य ज्ञान-विज्ञान के प्रकारों के; यदि ऐसा न हो तो अब तक मानव बुद्धि ने इस क्षेत्र को यों ही न छोड़ दिया होता। दर्शन, समाज-शास्त्र आदि की खोजों का उसने भरपूर उपयोग किया है, परन्तु उससे उपन्यास के आन्तरिक रूप में ऐसा कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आ सका कि उसे हम एक विशिष्ट रूप में 'ऐतिहासिक उपन्यास' की भांति स्वीकार करने को बाध्य हो जायें। उपन्यासकार को इतिहास से कथावस्तु और चरित्र की प्राप्ति ही नहीं होती—उसमे किसी काल विशेष के वैचारिक एव सांस्कृतिक दृष्टि-विषय (Phenomenon) का भी ज्ञान होता है; जब कि अन्य शास्त्र-शाखायें इतनी दिशाओं से सहायता नहीं दे पातीं।

इतिहास और उपन्यास की पारस्परिक स्थिति पर विचार करने के पहले एक बात ध्यान में रखनी है कि आधुनिक विज्ञान ने हमारे ज्ञान एवं

कार्य की विविध दिशाओं को प्रभावित किया है—इतिहास और उपन्यास भी इस प्रभाव के अपवाद नहीं हैं।

यह बात सम्भवतः पाठकों को विरोधाभास-सी लगेगी कि आधुनिक जीवन की बौद्धिक आवश्यकताओं ने ही विज्ञान और उपन्यास (अथवा रसात्मक साहित्य) को अलग-अलग किया और बाद को उसने ही एक प्रकार का सामञ्जस्य भी इनमें स्थापित किया। आज से १५०—२०० वर्ष पूर्व तक इतिहास और पुराण कोई अलग चीजें न थीं—महाभारत इतिहास भी था तथा पुराण एवं महाकाव्य भी। इस तथ्य को ध्यान में न रखने के कारण ही थोड़े दिन पूर्व तक 'पृथ्वीराज रासो' की ऐतिहासिकता पर विवाद चलता रहा है। परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि ने इतिहास को विज्ञान की भांति ही विशुद्ध वस्तुगत दृष्टि से कोरी तथ्यात्मकता तक पहुँचा दिया। जब एक बार इतिहास पुराण एवं किंवदन्तियों के शैवाल से मुक्त होकर तटस्थ शुद्ध तथ्यों का भण्डार बना तो मनुष्य की व्यवस्था-परायण बुद्धि ने उसे एक सिस्टम का रूप दिया और फिर इसी क्रम में सिस्टम की परख भी उसकी प्रयोगशील दृष्टि ने की। सार्थकता की परख के इस दौरान में इतिहास की अनेक व्याख्यायें उपस्थित की गईं, जिन्हें हम इतिहास-दर्शन के नाम से जानते हैं। धर्म और जाति की श्रेष्ठता, भाग्यवाद, महापुरुषवाद से आरम्भ कर कर निकोलाई डैनिलेवस्की, स्पेंग्लर के आवर्तवाद, आर्नल्ड ट्वायनबी के लयात्मक-आरोह-अवरोहवादी विकास से लेकर मार्क्स (और कुछ हद तक सोरोकिन जैसे समाज-शास्त्री भी) के रेखावादी विकास तक इतिहास की अनेक व्याख्यायें प्रस्तुत की गयी। इन विविध व्याख्याओं एवं दर्शनों ने हमारी विचार-प्रक्रिया को प्रभावित किया है। हमने अपने इतिहास को इन दर्शनों के आलोक में नये ढंग से देखना शुरू किया। अतीत का चित्रण भी इन नई दृष्टियों के आधार पर होने लगा और इसी बिन्दु पर ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रणयन शुरू होता है। इस प्रकार हम स्पष्ट देखते हैं कि जब इतिहास विशुद्ध तथ्य बना तो वह रसात्मक साहित्य से दूर हटा, पर जब उसने संस्कृतियों-सभ्यताओं एवं समाज के विकास पर दृष्टिपात शुरू किया तब उपन्यासकार (या अन्य लेखक भी) पुनः उसकी ओर गए।

यों प्राचीन आख्यानों की शरण में साहित्य बहुत दिनों से जाता रहा है—पर तब उद्देश्य दूसरा था : कथा प्रामाणिक हो, जनप्रिय हो, जिससे कि रसोद्बोधन में व्याघात उपस्थित न हो,—मनोविज्ञान की शब्दावली में 'स्टॉक रेस्पान्स' के लिए इतिहास की शरण ली जाती थी। 'नाटकं ख्यातवृत्तं पंचसन्धि-समन्वितम्' में ख्यातवृत्त का मूल कारण यही था—उस वृत्त की ख्याति

के विरुद्ध जाना सम्भव न था—पर आधुनिक मनोविज्ञान, सम
नृतत्व-शास्त्र या इतिहास ने इन वृत्तों की प्रामाणिक ख्याति को
दिया है। राम ही नहीं रावण और मेघनाद भी साहित्यकार के
यही नहीं अज्ञात व्यक्ति भी इतिहास और समाज के मन्तव्यों को
का माध्यम बनने लगा। हरमैन हेस का 'सिद्धार्थ' अथवा
'ऊर्मिला' इस 'अख्यात वृत्त' के उदाहरण है। कारण यह है कि
मात्र कथानक का स्रोत नहीं रहा—उसका सचेष्ट प्रयोग अब सम्भ
है। उपन्यासकार, नाटककार, कवि आदि प्रसिद्ध चरित्रों एवं घटना
मन्तव्य ढूंढ़ने लगे हैं। किसी पौराणिक चरित्र को विश्वसनीय
मध्य चित्रित करने के स्थान पर युग विशेष की उसकी व्यापक
शक्तियों के साथ उपस्थित किया जाने लगा, या कि किसी प्रसि
या उपेक्षित चरित्र को उसकी समस्त आशा-आकांक्षाओं एवं मान
तथा बाह्य संघर्षों के साथ उपस्थित किया गया, अथवा फिर
वर्तमान के साथ जोड़ा गया—प्रेरणा या उपदेश देने के
सभी क्षेत्रों के रिकन्सट्रक्शन के लिए लेखकों की कल्पना
विस्तार मिला।

इतिहास और उपन्यास के पारस्परिक सम्बन्धों पर बहुत
आपत्ति प्रकट की है। सर फ्रांसिस पालग्रेव नामक लेखक ने तो
कहा कि 'ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहास का शत्रु है
ओर कथा का। ऐसे लोग मात्र यह सोचते हैं कि इतिहास केव
या व्यक्तियों का विवरण है तथा उपन्यास मात्र कल्पना का विल
भूल जाते हैं कि इतिहास सारे राग-विरागों के साथ अतीत का
और उपन्यासकार सदैव यथार्थ को पकड़ता है, चाहे वह अतीत
वर्तमान का। अतः इतिहास के क्षेत्र में जाना किसी मर्यादा का उ
है। फिर क्या कोई इतिहासकार यह कहने का दावा कर सकता
इतिहास के लिखने या जानने में कल्पना का रञ्चमात्र भी
किया है। वास्तव में कोई भी मानवीय क्रिया या व्यापार (
activity) कल्पना के बिना सम्भव ही नहीं है—गणित भी
यथार्थ-कल्पना के उपयोग को लेकर इतिहास या उपन्यास में को
विरोध ज्ञात नहीं होता। तो क्या दोनों एक ही है? "नहीं",
उत्तर है। दोनों की रचना-प्रक्रिया एवं उद्देश्य धोखाओं के
क्रियाओं के अन्तर को भी प्रकट करते हैं। इतिहास विवरण देता
चित्रण करता है। चित्रण में घटना के आन्तरिक मन्तव्यों का

है। इसी कारण यह अधिक सूक्ष्म एवं अधिक व्यंजक होता है। उपन्यास का पाठक पढ़ते समय इतिहास की घटनाओं को नहीं जानना चाहता, नाम भी नहीं याद करना चाहता, वह तो चित्रित युग के आन्तरिक मन्तव्यों, उसके "चेतना-प्रवाह" को जानना चाहता है और इस प्रकार इतिहास की बरसी हुई शक्तियों की अवगति नहीं 'बिम्ब ग्रहण' की प्रक्रिया स्वीकार करता है। उपन्यास का चरित्र इस "बिम्ब ग्रहण" की इकाई बनता है, जब कि इतिहास में घटना का विवरण उसके बोध की इकाई होता है। उपन्यास में इतिहास के इस "बिम्ब ग्रहण" के कारण पाठक को जो आनन्द (या और कुछ) मिलता है उसे रविबाबू ने "ऐतिहासिक रस" कहा है। उनका यह मन्तव्य दृष्टव्य है, "पृथ्वी में कुछ ऐसे लोगों का भी अभ्युदय होता है जिनका सुख-दुख संसार की बृहत् घटनाओं के साथ सम्बद्ध होता है। राज्यों का उत्थान-पतन, महाकाल की सुदूर की कार्य-परम्परा, जो समुद्र के गर्जन के साथ उठती और गिरती है—उसी महान कला संगीत के स्वर में उनका व्यक्तिगत विराग और अनुराग बजा करता है।" ....यदि हम उन्हें व्यक्ति-विशेष के रूप में नहीं परन्तु महाकाल के एक अंग के रूप में देखना चाहें तो हमें दूर खड़ा होना पड़ता है। अतीत के अन्दर उनकी स्थापना करनी पड़ती है, वे जिस महान रंगभूमि के नायक थे उसको और उनको मिलाकर देखना पड़ता है। इस कथन के महापुरुषवादी स्वर को संशोधित कर कहा जा सकता है कि मुख्य बात यह 'महाकाल की सुदूर कार्य-परम्परा' यानी कि इतिहास-बोध ही है। महाकाल के रूप में महापुरुष ही नहीं नगण्य व्यक्ति भी देखा जा सकता है। इस महाकाल अथवा इतिहास की कार्य-परम्परा की अभि-व्यक्ति ऐतिहासिक उपन्यासकार का दायित्व है। एक लेखक की आत्मकथा के माध्यम से हर्षयुगीन भारत की समस्त कार्य-परम्परा की अभिव्यक्ति कर हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसी दायित्व का पालन किया है। यहाँ यह बात फिर याद रखने की है कि दोनों एक नहीं हैं पर इतिहास और ऐतिहासिक उप-न्यास के महाकाल-बोध के मूल मन्तव्यों में तनिक भी विरोध नहीं है।

ऐतिहासिक उपन्यासों के समीक्षण में उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। जो व्यक्ति कहानी गढ़ने के लिए केवल तथ्य इतिहास से चुनता है, उसकी विवशता उन तथ्यों को ध्यान में रख कर चलनी होगी और ऐसी ही स्थिति में हम किशोरीलाल गोस्वामी जैसे लोगों को ऐति-हासिक कह सकते हैं। अगर कोई महापुरुष चित्रित करना अभीष्ट रहा हो तब फिर उसके चरित्र की उदात्तता उन ऐतिहासिक परिस्थितियों में देखी जानी चाहिए। जैसे कि सत्यकेतु विद्यालंकार ने हिन्दी में 'आचार्य चाणक्य'

नामक ऐतिहासिक उपन्यास लिखा पर तात्कालिक राजनीति के विशृंखल वातावरण में उसके क्रिया-कलाप का ऐसा चित्रण प्राप्त नहीं होता जिससे कि वह अपने समकालिकों का अगुआ घोषित किया जा सके। परिणामतः समस्त उपन्यास पढ़ जाने के बावजूद 'चाणक्य' का चरित्र हमें गहरे ढंग से प्रभावित नहीं कर पाता। इस कमी का कारण है—उपन्यास की विवरणात्मक परिपाटी। उपन्यासकार ने चरित्र की यूनिट को नहीं, विवरण की इकाई को स्वीकार किया है। यदि लेखक किसी युग विशेष को 'रिकन्स्ट्रक्ट' कर रहा हो तो उस समय मूल आलोच्य वस्तु होगी उस युग का आन्तरिक रूप। यदि युग के आंतरिक मन्तव्यों को उपस्थित करने में लेखक सफल हुआ तो यदि कुछ घटनायें या चरित्र इतिहास के तथ्यों के अनुवर्ती न भी हों तब भी वह सफल कहा जायगा। पर इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि युग के आन्तरिक मन्तव्य वेशभूषा, चालढाल और बाह्य वातावरण की अपेक्षा आन्तरिक विचारधाराओं, इतिहास की विकासमान शक्तियों एवं उस युग के 'सोशल मोरस' (Soical Mores) के सम्पूर्ण चित्रण पर अधिक आधारित होते हैं। कभी-कभी ये सारी बातें होते हुए भी वर्तमान जीवन की विचार-प्रक्रिया हमको इस तरह अभिभूत किए रहती है कि बहुधा प्राचीन पात्रों और घटनाओं से उसकी अभिव्यक्ति जाने अनजाने हो जाती है—स्पष्टतः यह एक अनैतिहासिक तत्व है और ऐतिहासिक उपन्यास को कमजोर बनाने वाला है। हिन्दी में राहुल सांकृत्यायन एवं यशपाल के ऐतिहासिक उपन्यास इस कमज़ोरी के शिकार बने हैं। 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' इसी कमज़ोरी के न होने के कारण अधिक शक्तिशाली रचना बन सकी है।

बहुधा व्यक्ति-प्रधान ऐतिहासिक उपन्यासों में दो प्रकार के दोष आ जाते हैं : या तो तमाम घटना-जाल में उद्दिष्ट व्यक्ति अप्रमुख हो जाता है—क्योंकि इतिहास का चक्र किसी एक व्यक्ति के चलाए तो चलता नहीं है—अथवा फिर ऐसा उपन्यास अत्यधिक यांत्रिक हो उठता है। वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यास 'मृगनयनी' में पहला दोष है जिसमें मृगनयनी की अपेक्षा लाखी अधिक प्रमुख हो उठी है तथा 'झाँसी की रानी' में यांत्रिकता का दोष आ गया है। चतुर उपन्यासकार इसी कारण दूसरे रास्ते अपनाते हैं। सुदूर इतिहास को अपनाने से अपने उद्दिष्ट चरित्र को अपेक्षाकृत महिमा दी जा सकती है क्योंकि वहाँ घटना के यथार्थ का बन्धन नहीं होता। मुन्शी का 'भगवान परशुराम' इसी कारण 'भगवान कौटिल्य' की अपेक्षा अधिक सफल बन पड़ा है। अधिक अलौकिक एवं काल्पनिक होते हुए भी वह अधिक यथार्थ लगता है। लिखित इतिहास से बाहर होने के कारण लोक-कथानकों एवं किंवदन्तियों पर

आधारित उपन्यास भी इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं वर्मा जी के 'गढ़कुंडार', 'विराट की पद्मिनी' या 'कचनार' इसीलिए अधिक सफल हैं। किसी घटना या घटना-शृंखला पर लिखे गए ऐतिहासिक उपन्यास भी ऊपर गिनाए दोषों से मुक्त होते है *क्योंकि वहाँ पर घटना या घटना-शृंखला को उसके पूर्ण परि-*पाक तक पहुचाने के लिए मददगार सारे चरित्र एवं कार्य-व्यापार प्रयोग मे लाये जा सकते हैं एव अधिक नाटकीयता की स्थापना भी की जा सकती है। 'मुन्शी का 'पाटन का प्रभुत्व' अथवा गुजरात सीरीज़ के अन्य उपन्यास ऐसे ही हैं। इस प्रकार का लेखन लेखक से व्यापक ऐतिहासिक अनुशीलन की मांग करता है। उसके लिए आवश्यक होता है कि वह उन तमाम व्यक्तियों को पहचान सके जिन्होने उस घटना की चरम परिणति मे सहायता की है।

किसी अप्रमुख पात्र के माध्यम से एक सम्पूर्ण युग के पुनर्निर्माण (reconstruction) की पद्धति सर्वाधिक नवीन है। इसमे चरित्र-चित्रण के ऊपर कोई साहित्येतर अंकुश भी नहीं रहता है तथा ऐतिहासिक उपन्यास की मूल वस्तु—वातावरण निर्माण—पर अपेक्षित ध्यान दिया जा सकता है। यह बात ध्यान मे रखने की है कि ऐतिहासिक उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति वातावरण की स्थापना में ही है। वातावरण से मेरा तात्पर्य बाहरी ही नहीं आन्तरिक मन्तव्यो से भी है। तथा आंतरिक मन्तव्यों तक पहुँचना तभी सभव है जब समाज की द्वन्द्वात्मक गति का वैज्ञानिक ज्ञान हो और मानवीय चेतना के विविध स्तरो की आन्तरिक एकता का स्पष्ट आभास रहे।

स्वतन्त्रता के बाद इधर हिंदी मे ऐतिहासिक उपन्यासों (ऐतिहासिक कथानकों की ओर कहना अधिक युक्ति-संगत होगा।) की ओर लोगों का ध्यान गया है, परन्तु अपवादों को छोड़कर बहुधा उनमे या तो रसीली कहानी कहने की प्रवृति मिलती है या फिर एक प्रकार का पुनरुत्थानवाद (revivalism)। *ऐतिहासिक काव्यों एवं नाटकों के क्षेत्र में इतिहास-दर्शन* की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छ है। नए ऐतिहासिक उपन्यासकारो से मेरा अनुरोध है कि वे इतिहास की गति और अतीत के सन्दर्भों का अधिक सचेत बोध ग्रहण करें एवं बरतें।

काव्य और संगीत

इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील संसार की मनुष्य के हृदय पर बडी तीव्र
ा यह होती है कि वह 'शाश्वत' और 'चिरन्तन' के चक्कर में पड़
। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार वह ऐसे तथ्यों, ऐसे सम्बन्धों की प्यास
ा है जो 'शाश्वत' या सनातन हों। इस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप
न में अनेक धारणाएँ बद्धमूल हो जाती हैं और उन धारणाओं की
वह विवेकपूर्वक समीक्षा करने बैठता है। काव्य और संगीत में कोई
श्रित सम्बन्ध है, ऐसा विश्वास हमारे मन में अनजाने ही गहरी जड़ें
ा है। यों तो कला के सभी प्रकार मूल रूप से एक हैं। उनकी जड़
सहज प्रयोजनातीत आनन्दिनी वृत्ति, सृजन के लिए एक उत्कट
अभिव्यक्ति और प्रकाश की दुर्दम अभिलाषा विद्यमान हैं। यहाँ पर
क मनोवैज्ञानिक छानबीन करने से सम्भवतः अपने मूल विषय से
जावेंगे, परन्तु फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि
रूप से एक है। लेकिन यदि इसके आगे बढकर यह कहा जाय कि
विविध प्रकार, उसके विकसित रूप भी एक हैं, अन्योन्याश्रित हैं, तो
कहूँगा।

ाव्य और संगीत दोनो के मूल में कहते हैं ध्वनि या नाद है। लया-
के आधार पर ही संगीत चलता है, और ध्वनियों से ही शब्द
ो काव्य के उपजीव्य हैं तथा अब तक की प्रचलित परिपाटी के
न्द की लयात्मकता के भीतर से होकर गुजरते हैं। यही पर प्रश्न
क क्या संगीत और छन्द की लय एक ही है? ऐसे स्थलों पर
विवेचन न कर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए,
अनुरोध है। अन्यथा हम कुछ ऐसी भाषा में बातें करने लगेंगे
श्व में एक लय व्याप्त हैं, सारी कलाएँ लय पर आधारित हैं,
। और यह भाषा, स्पष्ट है कि, विश्लेषण से दूर ले जाने वाली और
है। हम बहुधा देखते हैं कि छन्द-शास्त्र की दृष्टि से गलत चरणों
द्वारा ठीक कर लिया जाता है। छन्द के दोष संगीत के आरोह-
व्याघात नहीं उपस्थित कर पाते। कवि लोग बहुधा गले द्वारा
-चला लेते हैं, इसका अनुभव कवि सम्मेलनों में कभी भी किया

जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में स्वामी हरिदास (तानसेन के गुरु) पर लिखी ये पंक्तियाँ इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं, "इनके पद कठिन राग-रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ-कुछ ऊबड़-खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है.........."

यदि छन्द और संगीत को आप खींच-खाँच कर अविभाज्य भी मानें तब भी यह प्रश्न शेष रहता है कि क्या छन्द ही कविता है? यदि छन्द के कोई गहरे अर्थ खींचकर न लाए जाएँ तो सम्भवतः यह बात निर्विवाद मानी जायगी कि छन्द, या अधिक स्पष्ट कहें तो तुकबन्दी और कविता में अन्तर होता है। छन्द का कार्य काव्य के अर्थ को और अधिक 'प्वाइण्टेड' बनाना है। इस तथ्य से सभी सहमत होंगे कि कविता और गद्य का अन्तर केवल छन्द का अन्तर नहीं है। केवल छन्दबद्धभाषा को आप कविता नहीं कहेंगे। इस सम्बन्ध में मुझे अंग्रेजी के प्रसिद्ध समीक्षक हर्बर्ट रीड की बात याद आ रही है। 'इंगलिश प्रोज़ स्टाइल' की भूमिका में उसने बतलाया है, "गद्य को पद्य से अलग करने के दो मार्ग हैं, एक तो केवल यान्त्रिक और बाह्य है : यह कविता को अभिव्यक्ति का ऐसा प्रकार मानता है जो अनिवार्यतः नियमित छन्द से सम्बन्धित है।" उसने आगे बताया है कि यह परिभाषा केवल तुकबन्दी की है। अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए रीड का कहना है, काव्य सृजनात्मक अभिव्यक्ति है, गद्य निर्माणात्मक। सृजनात्मक का अर्थ 'मौलिक' है। "काव्य में विचार-प्रक्रिया के साथ-साथ शब्दों का जन्म और पुनर्जन्म होता है।... ...विचारों और शब्दों के मध्य कोई समय का अन्तराल नहीं रहता। विचार शब्द है और शब्द-विचार तथा दोनों शब्द और विचार कविता है।"

"निर्माणात्मक से तात्पर्य बने-बनाये माल से है, अर्थात् के अनुदिष्ट प्रयोग के लिए तैयार रासिकृत शब्द। गद्य बने-बनाये शब्दों के आधार को कहते हैं।" श्री जे० मिडल्टन मरी ने बताया है कि गद्य में निश्चित चिन्तन और निश्चित वर्णन होता है। इस बात को यों समझा जाए कि यदि कोई कवि कमल के फूल पर लिखेगा तो वह उसके सौन्दर्य का प्रभावात्मक चित्र उपस्थित करेगा। परन्तु वह ऐसा वर्णन नहीं होगा कि आप उसे पढ़कर कमल का फूल पहचान सकें। शायद आप कमल और कुमुदिनी के मध्य भटक जाएँ। परन्तु गद्यकार को पुष्प के भावात्मक प्रभावों से कोई तात्पर्य नहीं। उसका 'निश्चित वर्णन' पढ़कर आप उसे देखते ही पहचान लेंगे। कविता के मुक्त छन्द का विकास 'निश्चित चिन्तन' के कारण ही हुआ है। उसके छन्द

और पद्य के अन्तर को आगे बताया है कि 'यह अन्तर संवेग की मात्रा का है'। शेक्सपियर और मैसिन्जर की तुलना करते हुए 'मरी' का कथन है "एक आवेग की कविता है और दूसरा गणना (विचार) का गद्य है।" स्पष्ट है कि अन्तर आवेग और भावुकता का है न कि छन्द की यति, गति, ताल और लय का। क्योंकि छन्द तो 'एक प्रकार का गद्य में भी होता है।' संस्कृत-साहित्य के रसज्ञ बाण की लयात्मकता से परिचित है। वर्ड्सवर्थ ने 'लिरिकल बैलेड्स' की भूमिका में इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए लिखा है "....गद्य लिखते समय इतने सहज और स्वाभाविक रूप से छन्द की पंक्तियाँ और अंश आ जाते हैं कि भले ही उनका आ जाना उचित न हो, परन्तु उनसे बच पाना लगभग असम्भव हो जाता है।" हर्बर्ट रीड और भी आगे बढ़कर बताते हैं कि यह भले ही विरोधाभास जान पड़े परन्तु कविता तो एक ही शब्द में हो सकती है (जैसे जापानी कविता।) परन्तु गद्य तो सदैव मुहावरे में होगा और मुहावरे में किसी न किसी प्रकार की लय निश्चित रूप से होगी। वै० डेनिस ने आवेग को संगति (हारमनी) से अधिक आवश्यक माना है। कारण बताते हुए उन्होंने कहा कि संगीत का कार्य केवल इतना है कि वह माध्यम की इस विशिष्टता की ओर संकेत कर दे जो गद्य में नहीं है। तात्पर्य वही जो ऊपर मैं कह चुका हूँ कि छन्द अर्थ को अधिक 'व्याइण्टेड' बना देता है। कविता इसीलिए कविता है क्योंकि वह गद्य से अधिक आवेग-पूर्ण और ऐन्द्रिक है। "संगति रहित आवेग आनन्द दे सकता है, परन्तु आवेग-रहित संगति उबा देती है।" बल्कि कहना यों चाहिए कि बहुधा आवेग के कारण संगति टूट जाती है। टी० एस० इलियट ने 'रेफलेक्शन्स आन वर्स लिब्रि' नामक निबन्ध में इस तथ्य की ओर संकेत करते हुए कहा है—"सबसे घनीभूत और सान्द्र क्षणों में वेब्सटर की कविता एक छन्दजन्य स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेती है।"

संगीत और काव्य में ध्वनि या नाद सम्बन्धी मूलभूत एकता का प्रश्न फिर भी शेष रहा। यदि हम तनिक विचार कर देखें तो विदित हो जाता है कि संगीत की आधारभूत ध्वनियाँ सप्त स्वर हैं जो मात्र कम्पनों पर आश्रित है। इनका सामाजिक जीवन की वास्तविकताओं और प्रक्रिया से कोई सम्पर्क नहीं होता। काव्य-साहित्य में ध्वनि-समूहों द्वारा निर्मित शब्द प्रयुक्त होते हैं, तथा शब्द अर्थ प्रकाशक होते हैं। उनका सम्बन्ध बाह्य जगत से होता है। शब्द और अर्थ पर विचार करने वाले जानते हैं कि यह सामाजिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। इस सम्बन्ध में पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह कथन द्रष्टव्य है, "वस्तुतः अर्थहीन छन्द प्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत की

उस सत्ता से जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम से कम योग होता है।
....काव्य द्वारा और संगीत द्वारा स्पन्दित मानव-चित्त के आवेगों में थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न होता है वह बाह्य सत्ता से पूर्णतया सम्बद्ध होता है। हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते रहते हैं। संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ अनुभूति नहीं होती जितनी काव्य जनित आवेग के कम्पन से होती है।"

वास्तव में संगीत में एक विश्वजनीनता होती है जिसका काव्य में अभाव है। बहुधा जिन भाषाओं का हम एक भी अक्षर नहीं जानते यदि वहाँ के गीतों की 'ट्यूनिंग' ही हम सुन लेते हैं तो आत्मविभोर हो उठते हैं। संगीत की स्वर-माधुरी मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी तक को सम्मोहित कर लेती है। पर काव्य के साथ यह बात नहीं है; वह भाषा की सीमाओं से बँधा है (शेक्सपियर या गेटे कितने ही बड़े कवि क्यों न हों, यदि हम उनकी भाषायें नहीं जानते तो व्यर्थ है।) परन्तु यहाँ पर मैं आपको उस मनोवैज्ञानिक तथ्य की याद दिलाना चाहूँगा जिसके अनुसार मनुष्य का मन सर्वदा कार्य-कारण की शृङ्खला खोजता रहता है। 'संगीत अविच्छिन्न (एब्सट्रैक्ट) होने के कारण अहैतुकी होता है।' कार्य-कारण की समुचित परम्परा का उसमें निर्वाह नहीं हो पाता। इस कारण संगीत की अनुभूति प्रगाढ़ नहीं हो पाती, जब कि अर्थ का आवेग अत्यन्त सान्द्र होता है। स्वर और अर्थ नितान्त भिन्न वस्तुयें हैं। स्वर शीघ्र आकर्षक पर क्षणिक होता है। अर्थ बौद्धिकता की अपेक्षा और अपेक्षाकृत स्थायी होता है। 'निशि दिन बरसत नैन हमारे' किसी शास्त्रीय राग के बोल हो सकते हैं, परन्तु जब तक पूरा न पढ़ें तब तक उसमें काव्य की सत्ता ढूंढ़ना व्यर्थ है। पर इतने ही बोल हमें संगीत में पूरा आनन्द दे जाते हैं।

काव्य और संगीत का पृथकत्व एक बात से और स्पष्ट है। हम अंग्रेजी से परिचित नहीं, पर शैली का काव्य हमें आनन्द देता है। संगीत का विश्वजनीन गुण कह कर आप इस तर्क को निरस्त कर सकते हैं। परन्तु अपने मौलिक रूप में ही नहीं अनुवाद में भी वे कवितायें हमें आनन्द देती हैं। अनुवाद में उसके संगीत की रक्षा तो होती नहीं पर उसके वक्तव्य का सौन्दर्य, उसकी चित्रात्मकता हमें रस प्रदान करती है। जिसने अंग्रेजी में यह अनुवाद पढ़ा वैसा आनन्द नहीं दे पाता उसका कारण मूल भाषा के शब्दों का अपना संगीत और चित्र-विधान है। इस सम्बन्ध में इलियट ने बड़ी सटीक बात कही है, अपने आशीर्वाद माने वाले शब्दों के सम्बन्ध तथा

संदर्भ के प्रासंगिक अर्थ और उस शब्द के अन्य सदर्भों में प्रयुक्त अर्थ तथा संयोगों की वृद्धि या ह्रास के द्वारा शब्द के संगीत का उदय होता है।" इस कथन मे व्यंजित 'अर्थ' की प्रधानता स्पष्ट है।

कम से कम बीसवी शताब्दी के युग मे काव्य की संगीतात्मकता पर जोर देना वास्तविकता से मुँह मोड़ना है। वर्तमान काल की अधिकांश कविता गाने के लिये नहीं, पढ़ने के लिये होती है। साहित्य की ग्राहिका इन्द्रिय बदल गई है। प्रसाद जैसे अतीतोन्मुख कवि ने भी इस बात को पहचान श्रव्य काव्य को पाठ्य काव्य की संज्ञा दी थी। छापे की मशीन ने कविता को सुनने नहीं, पढ़ने की सामग्री बना दिया है। यह साधारण बात नहीं है। इसने समस्त उपादानों को परिवर्तित कर दिया है। पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों मे "इस मशीन ने पाठक को भावावेश पर से ढकेल कर बुद्धि प्रवाह में फेंक दिया है।" अब पदझंकारमात्रेण मोहित करने का स्थल एकमात्र कवि-सम्मेलन रह गया है। तथा कवि सम्मेलनों की उपयोगिता के बारे में शायद दो मत नहीं हो सकते।

जहाँ तक सम्बन्ध का प्रश्न है—काव्य का जितना सम्बन्ध संगीत से है उतना ही चित्र से भी है। काव्य की सबसे बड़ी विशेषता आवेग के बाद बिम्ब-विधान या चित्रात्मकता ही है। शुक्ल जी ने बताया है, "विभाववस्तु चित्रमय होता है?" अतः संगीत पर विशेष जोर देना अनावश्यक है।

आधुनिक युग के महानतम महर्षि श्री अरविन्द ने अपने 'द फ्यूचर पोइट्री' नामक ग्रन्थ में काव्य की अपील का मूल्यांकन करते हुए तीन अवस्थायें मानी हैं—ध्वनि मूल्य, विचार मूल्य और आत्मिक मूल्य। उनके अनुसार जब प्रारम्भ मे मनुष्य काव्य के आनन्द की ओर उन्मुख हुआ होगा तब यह आकर्षण शब्द की आह्लादिक संगीत-ध्वनि के माध्यम से आया होगा। सम्भवतः श्री अरविंद की इस प्रथम अवस्था के लिए ही 'पोइट्री इज द बेस्ट वर्ड्‌स इन बेस्ट आर्डर' कालरिज की यह परिभाषा उपयुक्त है। कुछ और विकसित अवस्था मे विचार पाठकों को आकर्षित करता है। पं० पद्मसिंह बिहारी की 'बात की करामात' स्पष्ट करते थे परन्तु आज हम तुलसी या प्रसाद का जीवन-दर्शन जानने का प्रयत्न करते हैं। काव्य के आत्मिक मूल्यों को हम और ऊँची अवस्था में जाकर अनुभव कर पाते हैं। श्री अरविंद के अनुसार "भविष्यत् काव्य वह काव्य है, जिसमें यह आध्यात्मिक मूल्य अधिक घोषित रूप में रहेगा।"

यदि काव्य के इतिहास की यह अरविन्दी अवस्थायें न भी स्वीकार की जायें तब भी व्यक्ति के जीवन मे आप कुछ ऐसी बात अवश्य पा

सकते हैं। गीता में इस प्रकार की अवस्थाओं की ओर बड़ा सुन्दर संकेत किया गया है:—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेः परतस्तु सः ॥

आज की कविता इसी बुद्धि (जो केवल आत्मा के नीचे है) की कविता है, तथा बौद्धिक अवस्था मनुष्य की विकसित आयु में ही सम्भव है। लड़कपन में तो वह रंगों और ध्वनियों की ओर ही दौड़ता है। काव्य और संगीत के सम्बन्ध में इलियट की यह बात मुझे बहुत अच्छी लगी कि "कवि और सङ्गीत का निकटतम सम्पर्क बस लय और आकारबोध के साथ ही होता है।" पर यह लय और आकारबोध बाहरी वस्तुयें हैं यह हम पहले ही देख चुके हैं।

नयी कविता : कुछ सैद्धान्तिक विचार

काव्य सृजन की प्रक्रिया मे कवि-कल्पना बहुत महत्वपूर्ण तत्व है।
ाधुनिक काव्य के नयेपन ने इस तत्व को काफी दूर तक प्रभावित किया
ान के वर्धन एवं परिष्करण ने कल्पना के उस पक्ष को बहुत सीमित
दिया है जो अरूप एवं अनुपस्थित की ओर प्रधावित होता है। इस कारण
के पंख भी कुतर से गए हैं। छायावादी कवि जिस कल्पना बहुलता
वस्तुओं को आवश्यकता से अधिक स्फीत करके दिखाता था वह आज
परक युग में व्यर्थ मान लिया गया है। यथार्थ के आग्रह ने कल्पना
र्य केवल उपस्थित में से मार्मिक के चयन तक सीमित कर दिया है।

इस स्थिति के अनेक कारण हैं। अखबार की समाचार प्रवाहशीलता
ना को बहुत कुछ कुण्ठित कर दिया है। एक प्रकार की आत्मचेतना
श्लेषण शक्ति—जो समाचार-पत्रों की प्रमुख देन है—कविता के लिए,
के लिए अवरोधक शक्ति बन कर उपस्थित होती है। प्राचीनकाल में
, किंवदन्तियाँ, दन्तकथाएँ, धार्मिक विश्वास एवं अलौकिक चमत्कार
से जनता में प्रसार पाते थे, पर अब उनका स्थान इस ससार मे
प से घटने वाले समाचार प्रवाह ने ले लिया है। आज के व्यक्ति
ग स्वेज समस्या से भयभीत होता है, कल सेल्सटैक्स से उलझता है
सों राज्य पुनर्गठन की बातचीत उसे आक्रान्त करती है। परिणाम
ाचीन स्थिति में काव्य की जो सहज प्रतिक्रिया हो सकती थी आज
हीं रही। राम और सीता या नल दमयन्ती की कथायें अबके,
न, तार्किक और बुद्धिप्रवण युग में शिक्षित समाज के बीच वह
प्रतिक्रिया नहीं जगा सकते जो पहले सम्भव था। आज के युग की
थत' और 'समुचित' की है। कवि को जो कुछ प्रेषित करना है
मुख आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने विश्लेषण प्रवण बुद्धि के द्वारा एक
उपस्थित कर दिया है। पढ़ते ही आधुनिक पाठक पूछना चाहता
यह सम्भव ? मेरा व्यक्तिगत अनुभव है कि कक्षा मे कवि-प्रसिद्धियों
समयों के बारे में लगातार विद्यार्थी 'क्यों' 'कैसे', और क्या सच
ान रहते हैं। उनकी बुद्धि में यह बात शीघ्र नहीं पैठती कि उस
म-कल्पना के लिए ये असत्य न थे और न ही अनुचित थे। इस

शंकाशीलता के कारण बिम्ब और तत्सम्बन्धी भाव का सम्प्रेषण कठिन हो जाता है। ऐसी स्थिति में सम्भवतः कवि झकझोरने वाली ट्रिक्स काम में लाता है कि 'लाओ कुछ क्षणों के लिए ही सही, इस प्रबुद्ध पाठक को स्तम्भित कर दें।,

नया कवि आधुनिक जीवन की जटिलता, मतिभ्रम एवं दिग्भ्रम के मध्य एक ओर अपना रास्ता निकालना चाहता है और दूसरी ओर एक अतिशय तर्कशील, प्रबुद्ध और कृत्रिम पाठक पर अपना प्रभाव जमाना चाहता है। पर इसी स्थल पर बहुधा नये कवि—(उनमें भी जो कम प्रतिभाशाली हैं) की कमजोरी उभर कर आ जाती है। वास्तव में कल्पना का कार्य विचार और अनुभूति को एक सूत्र में पिरोना है पर कवि का यह अतार्किक और अचम्भे के बच्चे वाला दृष्टिकोण इस एकात्मकता को नष्ट कर संवेदना की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति को नष्ट कर देता है। तथा उसका बिम्बविधान *भावनात्मक तर्क से दूर हट जाता है। यह स्थिति काव्य में प्रगति नहीं अगति* की द्योतक है। पर भाग्यवश हमारे नये कवि इस अतार्किक दृष्टिकोण से परे हैं। कुछ ही इस दुरूहता और 'अचम्भा' की ओर ले जाते हैं।

कल्पना वह शक्ति है जो यथार्थ के व्यक्तीकरण के लिये विविध सांचे (Patterns) ढूंढती है। परन्तु आज जिसे हम यथार्थ कहते हैं यानी कि जो हमारी वर्तमान वास्तविकता है वह अत्यन्त कलयुक्त है। पिछले १०० वर्षों के भीतर ही भावना के क्षेत्र में आने वाली वस्तुओं के आंकड़े बेहद बढ़ गये हैं पर उनमें किसी समन्वय या संयोजन का अभाव है और फिर ये सारी बातें अनेक प्रकार से कवि के मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। अब यदि इस वर्तमान वास्तविकता को, जो पूर्व युगों की अपेक्षा अत्यधिक नवीन है, प्रेषित करना है तो निश्चित रूप से इसका जटिल, परिवर्तमान रूप तथा नयापन उस अभिव्यक्ति कौशल को प्रभावित करेगा जो इन सबका वहन पाठक तक करेगा। जीवन की उत्तेजना, द्वन्द्व और जटिलता मानकर प्रतिभा के अपेक्षाकृत कम धनी कवियों के *बिम्बों एवं* रूपकों को तोड़ देते हैं, और उनका शुद्ध रूपाकार का अभाव एक प्रकार की अर्थहीनता या दुरूहता को जन्म देता है।

फिर आज का कवि छोटी से छोटी वस्तु को भी काव्य के लिये अग्राह्य नहीं मानता है तथा दूसरी ओर वे सारे के सारे माध्यम जो उनके पूर्ववर्तियों के लिये खुले थे, उन्हें वह बन्द पाता है। ऐसी स्थिति उसके ऊपर शैली सम्बन्धी बड़ा दबाव डालती है उसे अपनी वर्णनात्मक एवं अर्धविचारात्मक या वर्णनात्मक [illegible] के भीतर अतीव दूर एवं अपार वस्तु स्थितियों को

संयोजित करना पड़ता है। यह दबाव, आलंकारिक पदावली के प्रति उसके मन में स्थित हेय भावना तथा परम्परा प्राप्त शैली के विरोध के कारण और बढ़ जाता है। परिस्थिति में एक ऐसा तनाव उत्पन्न होता है जो विविध बिम्बों (Images) के द्वारा अर्थ को अधिक से अधिक ध्वनित करना चाहता है और उस काव्यसूत्र पर कम से कम ज़ोर डालता है जो उन्हें जोड़ता है। बिहारी जिस आलंकारिक ढंग पर अपनी दलील (Argument) उपस्थित करते हैं—

> करी कुबत जग कुटिलता, तजौं न दीनदयाल।
> दुखी होउगे सरल चित, सदा त्रिभंगी लाल॥

इस आलंकारिक तरीके से नया कवि सही या गलत ढंग से घृणा करता है और उसके स्थान पर आधुनिक कवि केवल बिम्ब विधान पर ज़ोर देना चाहता है और यह बात बिम्बों को ही विघटित करके अस्पष्टता नहीं उत्पन्न करती, उनके आंतरिक संघटन में भी व्याघात उपस्थित करती है।

एक समस्या और भी है जहाँ आधुनिक कवि किसी भी विषय या वस्तु को अकाव्यात्मक नहीं मानता है वहीं कोई बाह्य अॅथारटी ऐसी नहीं है जो उसे विषय वस्तु के चुनाव में निर्देश दे सके या उसके मूल्य निर्धारण में निरख का कार्य कर सके। कवि-कर्म की इस कठिनता की ओर ईट्स ने एक बड़ा स्पष्ट संकेत किया है—"सब कुछ जानने वाले कवि के सामने अंततः एक कठिन कार्य रहता है!" उसकी विषय वस्तु—जैसी कि जन-कल्पना (General Imagination) में स्थित थी—बहुत अधिक काव्यात्मक थी। एक संसार जो कायाहीन विचारों और मनोवेगों का नहीं, बल्कि दृश्यों, आकारों, क्रियाओं और घटनाओं का था। अधिकांशतः वह इनके साथ ऐक्य-भाव से रहता था। ये उसकी धार्मिक और नैतिक अनुभूतियों एवं विश्वासों को अधीन भी करता था।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जैसे प्राचीन संस्कृत या ग्रीक कवि अपने युग में प्रचलित विश्वासों एवं पुराणगाथाओं (Myths), जो स्वयं अर्थगर्भिता है, पर आश्रित होकर लिखता था, वैसे ही नया कवि क्यों नहीं लिखता? पर यह बात तो स्पष्ट है कि इन प्रचलित कथाओं का वह जन-कल्पना वाला रूप समाप्त हो गया है। वे आज म्यूज़ियम की वस्तु बन गई हैं। उन पर यदि कवि लिखेगा भी तो केवल म्यूज़ियम की दिलचस्पी से ही लिखेगा या फिर उनका आधुनिकीकरण करने के लिये अपने युग की चित्त-वृत्ति को प्रतिफलित करने वाला नया अर्थ जोड़ेगा। अस्तु जैसे प्राचीन ग्रीक

कवि ने इस नयेपन के दबाव से ही मनु की कथा में नया अर्थ जोड़ा तथा ताजा उदाहरण भारती का है जो महाभारत के कुछ पात्रों को नये अनास्था मूलक सन्दर्भ में उपस्थित करते हैं, जिनका कि अप्रतिम शौर्य तो अस्त पर वे धुरीहीन पहिये के समान हो गये हैं और इस प्रकार वर्तमान जीवन को वे उस युग पर आरोपित करके उपस्थित करने का प्रयास करते हैं—

उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नहीं रह रह कर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं न कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है।

और जो नया कवि नये अर्थों को न ले उसी पुरानी जन-कल्पना को ही चित्रित करना चाहता है वह निश्चय ही पीछे रह जाता है। ऐसी असफलता का स्पष्ट उदाहरण 'कृष्णायन' काव्य है। कारण ढूंढने के लिए ए० सी० ब्रँडले की कुछ पंक्तियाँ तनिक देख लें, "यदि किसी कविता को महान जैसी कोई बात होना है तो वह एक अर्थ में वर्तमान से संबद्ध अवश्य होनी चाहिये। इसका विषय कुछ भी हो सकता है पर इसे वह कुछ जीवित अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिये जो उस मस्तिष्क में है जिससे वह आती है तथा जिन मस्तिष्कों में उसे जाना होता है। शरीर के साथ ही उसकी आत्मा भी यही और अभी होनी चाहिये।" तथा मैथ्यू आर्नेल्ड के अनुसार "साहित्य की श्रेष्ठ कृति के सृजन के लिए दो शक्तियों को एक साथ घटित होना चाहिए—मनुष्य (कवि) की शक्ति एवं (वर्तमान) क्षण की शक्ति।"

एक शंका यहीं पर और उठती है कि यदि आधुनिक युग की वस्तुयें, नया यथार्थ और उसके विविध उपकरण हमारी सामान्य जन कल्पना में नहीं अँट पाते तो कवि उनका प्रयोग ही क्यों करता है? शंका उचित अवश्य है, पर यदि कवि इस सामान्य जन सुलभ कल्पना (Popular Imagination) को उकसाने का उद्योग न करेगा तो कभी भी यह बातें काव्योचित न बन पावेंगी। वास्तव में सामान्य चेतना (General Conciousness) और सामान्य कल्पना में थोड़ा सा अन्तर है। जब सामान्य चेतना द्वारा कोई बात ग्रहण कर ली जाती है तो कवि का यह अधिकार ही नहीं कर्तव्य भी है कि उस बात को आगे बढ़ावे। हमारी भावनाओं के नये विषय इस चेतना की प्राचीर के भीतर पहले आ जाते हैं, उदाहरणार्थ टेलीफोन का रिसीवर। पर अभी कल्पना की वह प्रचलित प्रक्रिया उकसा सकने में असमर्थ है जो [illegible] उकसा देते थे। पर जैसे रेलगाड़ी हमारी कल्पना

का भी विषय बनने लगी है (लोकमानस ने अपनी गीतात्मक अभिव्
उसे समेटा है) वैसे ही अन्य तथ्य एवं वस्तुएँ भी रागात्मक पहलू प्रा
लेंगी। हाँ, यह अवश्य है कि अभी ये सारे प्रयोग अनगढ़ लगते हैं और स
पाठक को असंस्कृत एवं अकाव्यात्मक प्रतीत होते हैं। फिर शिक्षा के
में गहरा अन्तर एवं, ज्ञान-विज्ञानों की बहुलता और विशेषत्व भी
समाज एवं कवि को सामान्य चेतना के एक स्तर पर नहीं रहने
ऐसी स्थिति में हम कवि एवं काव्य-रचना पर दुरूहता का
आरोप करने लगते हैं। वास्तव में चेतना के इन विविध स्तरों एवं
जन-कल्पना के अभाव के कारण आज के कवि का कार्य अत्यन्त दु
गया है। उसे एक प्रकार की ऊष्माहीनता से आरम्भ करना होता है
कल्पना की प्रक्रिया एवं प्रतिक्रिया के अभाव में कवि के ऊपर को
अंकुश भी नहीं है और न कोई ऐसी कसौटी है जिस पर वह अपने
विधान एवं काव्य-रचना को कस सके; तथा जब तक पाठक समाज
सत्य और यथार्थानुशीलन को सहानुभूति पूर्वक स्वीकारेगा नहीं तब त
बिम्ब-विधान पर कोई मूल्य सम्बन्धी नियम भी नहीं स्थापित हो स
मूल्य की बात तो सामाजिक तत्व है। वास्तव में आज के काव्य की अ
का यह प्रमुख कारण है।

कवि के अपने व्यक्तित्व और रचना-प्रक्रिया के कारण भी एक
काव्य में आती है और यह कारण हर युग के कवि की दुरूहता प
किया जा सकता है। कवि अपने कार्य की व्यवस्था, पुनर्व्यवस्था एवं
को बौद्धिक स्तर पर सम्पन्न करता है, पर वह अनुभूति के चरम
इस बिन्दु के अतिरिक्त भी अपने को प्रक्षेपित करता है और वहाँ पर
निर्देश अपने काव्य के सम्बन्ध में पाता है, जिसे कि लेविस कविता की अ
(inevitability) मानता है। यह बिन्दु मनोवेगों की एक प्रकार की
ग्रन्थि का कहा जा सकता है जिसे कि हमारी बाह्य चेतना एवं बुद्धि
ढंग की सांगीतिक अभिव्यक्ति में परिणत करने का प्रयास करती है,
बिन्दु अपने आप में इस सांगीतिक अभिव्यक्ति से कहीं ऊपर आता है। क
बिन्दु पर अपने लक्ष्यवेध के लिए परम्परा से प्राप्त भाषा आदि काव्य-
को अपने ढंग से मोड़ लेता है, उसमें नये शब्दों और, मुहावरों का प्र
कर लेता है। अतः हर्बर्ट रीड के अनुसार अस्पष्टता या दुरूहता कवि
हममें होती है। वह तो अपनी विचार-प्रक्रिया एवं भावनात्मक सू
सर्वाधिक समुचित एवं सटीक शब्दों, मुहावरों तथा बिम्बों में उपस्थित
है। हम उस सटीकता का अनुमान न कर पाने के कारण बहुधा

पुड़ना या दुरूहता का प्रारोप करने लगते हैं। लोगों का कहना है कि शमशेर बहादुरसिंह हिन्दी में इसी श्रेणी के कवि हैं। परन्तु रीड के इस काव्य-प्रक्रिया सम्बन्धी मत को एक सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। यदि कवि अपनी इस अटिल अनिर्वात ट्रांसेंडेंट अनुभूतिको साधारणीकरण के स्तर पर नहीं ला पाता है तो उसकी विचारसरणि या भाव-सम्पत्ति के प्रति समस्त श्रद्धा रखते हुए भी हमें यह कहना पड़ेगा कि उसका रचना-विधान तथा तन्त्र-कौशल दुर्बल है। क्योंकि साधारणीकरण के बगैर 'सुरसरि सम सब कहं हित' सम्भव नहीं और हित तो प्रिय होता ही है; पर अभाग्यवश यदि प्रिय नासमझ या समझ के बाहर हो गया तो फिर खुदा खैर करे।

नये कवि की सबसे बड़ी कमजोरी या असफलता का सबसे बड़ा कारण है 'अधैर्य'। वर्तमान समय में हमारी जिज्ञासा को उभाड़ने वाले तत्वों की अधिकता है। वह प्रत्येक कार्य या वस्तु में नया अर्थ ढूंढता है। मैंने एक बार किसी दार्शनिक का एक कथन पढ़ा था कि पहले व्यक्ति आकाश को आकाश, समुद्र को समुद्र एवं नक्षत्रों को नक्षत्र समझता है, पर कुछ ज्ञान एवं बुद्धि की वृद्धि के साथ वह इन्हें इनके प्रकृत रूप में न देख कर कुछ नये रूप में नये अर्थों को जोड़ कर देखने लगता है। फिर ज्ञान की श्रेष्ठ अवस्था में पहुंच,मनुष्य वस्तुओं के प्रकृत रूप को पुनः प्राप्त कर लेता है। आज की हमारी स्थिति बीच वाली है। हम हर कार्य एवं वस्तु में नया अर्थ ढूंढते हैं। और यह नया अर्थ कुछ पके इसके पूर्व ही समय की द्रुतगतिशीलता के कारण उसका रस ले लेना पसन्द करते हैं। कवि सभी विषयों एवं वस्तुओं को बिम्बविधान के मध्य परिपक्व करने के पूर्व ही उनका काव्य में उपयोग कर लेना चाहता है। परिणाम यही कि अधिकांश बिम्ब रूप टूटे-फूटे एवं असंगत हो जाते हैं और बिम्ब नहीं बिम्बाभास मात्र रह जाता है।

इस समय हिन्दी में नयेपन का एक जबरदस्त झोंका आया है और टेढ़ी-सीधी, छन्दमुक्त या मुक्त छन्दात्मक कविताएँ लिख कर अथवा कुछ नयी उपमायें देकर 'नया कवि' बनने का जादू बड़े-बड़े लोगों के सर पर चढ़कर बोला है। इस परिस्थिति में 'आधुनिक या नये' बनने के इच्छुक कवियों के सम्मुख सेसिल डे लेविस ने जो अनेक कठिनाइयां बताई हैं, उनको उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। उसके अनुसार सबसे बड़ी कठिनाई तो यही है 'कि आधुनिक बिम्बविधान का कच्चा मसाला बहुत शीघ्र पुराना पड़ सकता है'। विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों की दौड़ में एंजिन, रेल, हवाई जहाज, तारकोल की सड़क या रेस्तरां का बेयरा 'आउट आफ डेट' एवं बीते इतिहास

की वस्तुएं हो सकते हैं। इस तथाकथित अर्थहीनता के भय के प्रति रूँकते या मैथ्यू आर्नाल्ड का उत्तर ऊपर आ चुका है पर अज्ञेय की ये पंक्तियाँ भी बड़ी सटीक हैं—

> सत्य का सुरभिपूत हमें मिल जाय
> क्षण भर :
> एक क्षण उसके आलोक से सम्पृक्त हो
> विभोर हम हो सकें
> और हम जीना नहीं चाहते।
>
> अथवा
>
> हमें किसी कल्पित मंजिल का मोह नहीं
> आज विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
> पूरा हम जी लें, पी लें, आत्मसात् कर लें

इसके अतिरिक्त यह समता हमारे भावनात्मक साहचर्य से असम्पृक्त है। इस अपरिचिति के कारण इसका अधिक उपयोग सम्भव नहीं है।

एक अन्य कठिनाई काव्य-रूपों के अभाव की है। काव्य रूपों का अभी सम्यक् विकास नहीं हो सका है जो जनप्रिय ढंग पर आधुनिक दृश्यों, बिम्बों एवं विचारों को उपस्थित कर सकें। गीतनाट्यों, व्यंग्यात्मक, हास्य-प्रधान एवं सहज शैली-विधान के द्वारा इस नयेपन को सम्प्रेषित करना अधिक समीचीन होगा।

पर इस नयेपन के पैगम्बरों के सम्मुख जो सबसे बड़ी कठिनाई या भ्रम है वह यह कि वे लोग भूल जाते हैं कि नये बिम्ब-विधान या शैली-प्रकार के साथ-साथ आधुनिक जीवन की संवेदना एवं नयी विचार-सम्पदा का होना भी आवश्यक है। इसके लिये कवि के पूरे व्यक्तित्व को आधुनिक होना पड़ेगा—यानी कि वह केवल समकालीन विचार धाराओं से ही परिचित न होगा, बल्कि उसमें इतनी शक्ति और संवेदना होगी कि वह सहानुभूति और सक्रिय ग्रहणशीलता पूर्वक वर्तमान में रह सके। वर्तमान की विस्फुट समानान्तर रेखाएँ वेदों में या गीता में ढूँढना एक बात है और संगुम्फन, जटिलता एवं वैभिन्य की अतिरेक की स्थितियों के मध्य स्थित वर्तमान को समझना और उसमें जीवित रहना अन्य प्रकार की जीवनी शक्ति का द्योतक है।

एक बात और : काव्य रूप का किसी धरातल पर बाहर से थोप देने से नहीं बनता। इसी प्रकार विघटित समाज एवं खंडित युग, अर्थात् वर्तमान के काव्य को अच्छी सुघड़ काव्य न होना चाहिये; क्योंकि कल्पना एवं कथित

तत्व है और यह अव्यवस्था में पड़े मस्तिष्क को एक क्रम में ला सकती है। जे. माइजुस्स के अनुसार इलियट की 'वेस्ट लैण्ड' कविता यूरोप के सम्मुख उपस्थित सांस्कृतिक संकट एवं अव्यवस्था को अव्यवस्थित और विघटित नहीं, व्यवस्थित एवं संयोजित ढंग पर उपस्थित करती है। कविता की भाषा में इस विघटन के लिये एक मुहावरा है पर उसका रचना-कौशल पुष्ट एवं दृढ़ है। अतः जहाँ पर कवि टूटे-फूटे असंगत बिम्बों एवं विघटित रूप-विधान को उपस्थित करता है वहाँ पाठक का मात्र यह पूछने का ही अधिकार नहीं है कि यह अव्यवस्था एवं शृङ्खलाहीनता क्यों, बल्कि यह निर्णय भी दे सकता है कि कवि मे अपेक्षित शक्ति की कमी भी है।

आधुनिक कविता : उपलब्धि और संभावनाएँ

आधुनिक कविता की उपलब्धियों या उसकी आगत संभावनाओं पर जब हम विचार करने को उद्यत होते हैं तो पहला प्रश्न उठता है कि आधुनिक कविता से हमारा तात्पर्य क्या है ? और इसी से जुड़ा हुआ दूसरा सवाल है कि आधुनिक युग कब से माना जाय ? हमारे देश में प्लासी के युद्ध के बाद एक नये दौर का प्रारम्भ माना जा सकता है, तभी से देश में नये शासन, नवीन व्यवस्था और नए संगठन का सूत्रपात होता है। इस दौर का पहला चरण १८५७ के आसपास समाप्त होता है। १८५७ ई० और उसके कुछ पूर्व का समय सामन्तों के मोहभंग का समय है जिसकी अंतिम परिणति सन् १८५७ के प्रथम स्वातन्त्र्य युद्ध में होती है। इस विद्रोह की पृष्ठभूमि में सामन्ती स्वार्थ, जनता की धर्मभावना को चोट पहुँचाने वाला प्रहार और स्वामिभक्त प्रजा की वीरपूजा की भावना आदि अनेक कारण थे। अस्तु, इसकी असफलता के बाद महारानी विक्टोरिया की घोषणा और उसके पश्चात् की अपेक्षाकृत सुचारु शासन-व्यवस्था सद्यःजात नवीन मध्यवर्ग के भीतर एक नये आशावाद का संचार करती है। इस मध्यवर्ग में बीच का नफा खाने वाले व्यापारी, नये जमींदार तथा सरकारी नौकरियों में आने वाले सम्मिलित थे। यही लोग धीरे धीरे नेतृत्व प्राप्त करते जा रहे थे। इसी आशावाद के दरमियान के वे प्रयत्न हैं जिनमें भारतेन्दु बाबू, प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास आदि जैसे लोग राजभक्ति को दृढ़ करना चाहते हैं, 'कटोरियाँ सी विक्टोरिया रानी' की स्तुति करते हैं तथा मस्ती, उल्लास और हास-परिहास के वातावरण को उपस्थित करते हैं। यह बात नहीं कि भारतेन्दु और प्रतापनारायण जैसे लोगों ने अंग्रेजों के शोषक स्वरूप अथवा उनकी व्यवस्था की असंगतियों को महसूस नहीं किया, परन्तु फिर भी उनके मन में शायद कुछ ऐसी धारणा बराबर बनी रही थी यह 'ख्वारी' शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। पर इस आशा का अन्त भी देश की बढ़ती हुई गरीबी, बेकारी, अकाल, महामारी आदि के मध्य हुआ। डा० केसरीनारायण शुक्ल के मत से, "कोरी राजभक्ति से असंतोष भारतेन्दु-युग की राजनीतिक चेतना का अंतिम स्वरूप है।" भारतेन्दु का मीठा, मृदुल असंतोष बाबू बालमुकुन्द गुप्त के तीखे शिवशंभु के चिट्ठे में परिणत हो जाता है। यहीं पर इस युग का

दूसरा दौर समाप्त हो जाता हैं। प्रथम दौर ने गद्य के विकास की पृष्ठभूमि को दृढ़ किया; दूसरे में गद्य की निबन्ध और नाटक विधाओं के भीतर सामाजिक चित्तवृत्ति प्रतिबिम्बित हुई।

मेरा अनुमान है कि काव्य की प्रक्रिया अपेक्षाकृत अधिक अनुदार (Conservative) होती है। बहुधा तात्कालिक प्रयोजनों की अभिव्यक्ति का उद्देश्य गद्य-साहित्य को चेतना के गहरे स्तरों में नहीं उतरने देता। यदि रिसर्च के बिन्दु को खींच कर लकीर बना देने वाली प्रवृत्ति से कुछ समय के लिये पीछा छुड़ा कर सोचा जाय तो मेरे विचार से आधुनिक कविता का प्रारम्भ इस तीसरे चरण अर्थात् सन् १९०० ई० के आसपास से माना जा सकता है। इसी समय के आसपास नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना होती है, सरस्वती का प्रकाशन प्रारम्भ होता है, खड़ी बोली का आन्दोलन जोर पकड़ता है और बाबू बालमुकुन्द गुप्त, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक तथा हरिऔध जी जैसे व्यक्तित्व सामने आते हैं। इसके पूर्व कविता की विषय-वस्तु और रूप-विधान में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन लक्षित नहीं होता। रीतिकाल यहाँ तक खिंचता आता है।

इस काल में आकर ज्ञान की विविध शाखाओं का प्रसार धीरे-धीरे होता है जिससे कि मनुष्य और उसके परिवेश को समझने की नयी दृष्टि मिली। 'वैज्ञानिक विचार' ने पुरानी मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को नष्ट किया अथवा अपनी मनमानी व्याख्याएँ उपस्थित कीं। प्राचीन इतिहास के अनुशीलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन की वर्तमान गति ने आत्मगौरव सम्पन्न भी बनाया और शोषण के बढ़ते हुये रूप एवं मशीनी उत्पादन के विकराल स्वरूप ने व्यक्तित्व का विघटन भी किया। आर्थिक संगठन की दृष्टि से कृषि की स्थिति दिन-ब-दिन बदतर होती गयी और उद्योगों का केन्द्रीकरण बढ़ता गया,— इससे एक ओर तो किसानों में असंतोष का उदय होता है और दूसरी ओर एक नये अपेक्षाकृत संगठित मजदूर-वर्ग का उदय प्रारम्भ होता है। इन तथ्यों ने राष्ट्रीय आन्दोलन को भी अनेक मोड़ दिये। धीरे-धीरे भारतीय समाज एकनिष्ठ सत्ता के जनतन्त्र बन गया। प्रबुद्ध मध्यवर्ग ने व्यक्ति-अहंता को अपनाया परन्तु शीघ्र ही उसका विघटन हुआ और समाज-प्रधान विचार-धाराओं ने बल पकड़ा। अतः समाज की इन विविध स्थितियों, विकास-मार्गों एवं अवरोधों ने साहित्य को भी अनेक तरह से प्रभावित किया और आगे बढ़ाया। इन्हीं समस्त उपलब्धियों के मूल में ये सारे तत्त्व सतत क्रिया-शील रहे हैं।

हमने आधुनिक युग का प्रारम्भ खड़ी बोली की प्रतिष्ठा से माना था यदि हम कुछ समय के लिये अपनी अन्य उपलब्धियाँ भुला भी दें तो भी पिछले पचास-साठ वर्षों में खड़ी बोली का जो एक सामान्य जनभाषा के रूप में निर्माण हुआ है, उसे सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति में सम्पन्न बनाया गया है, वह भी अपने आप में साधारण वस्तु नहीं है। इस अभिव्यंजना क्षमता का क्रमिक विकास बड़ा रोचक है। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता एवं स्थूल समस्त बहुलता, छायावाद की मृदु-मधुर पदावली, प्रगतिशील साहित्य की ओज एवं शक्ति-समन्वित भाषा तथा समकालीन काव्य की जटिल संवेदनाओं एवं सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध को प्रकाशित करने वाली अभिव्यंजनाएँ और फिर इन सबके ऊपर व्यंग्य की अद्‌भुत सामर्थ्य के रूप में हमारी काव्य-भाषा की अनूठी प्रगति रही है। सीधी-सादी सरल भाषा में भी व्यंग्य कितना उभर कर आ सकता है, इसका उत्कृष्ट प्रमाण भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत-फरोश' कविता है। सौन्दर्य की अभिव्यंजना का भी एक छोटा सा उदाहरण देख लें—

तुम्हारी देह
मुझको कनक-चम्पे की कली है
दूर ही से
स्मरण में भी गन्ध देती है।
[रूप स्पर्शातीत वह जिसकी लुनाई
कुहासे-सी चेतना को मोह ले।]
—अज्ञेय

वास्तव में भाषा का यह निखार एक पृथक् शोध का विषय है। भाषा की गति यदि लोकोन्मुख न हुई तो वह भाषा समाप्त हो जाती है, ऐसा भाषाशास्त्र के जानकारों का कहना है। हर्ष की बात है कि हमारी यह काव्य भाषा दिन-दिन लोकोभिमुख होती जा रही है। पन्त, निराला जैसे छायावादी, अज्ञेय जैसे अवलंसवर्गीय अथवा गिरजाकुमार जैसे तड़क-भड़क, रंग-ध्वनि प्रेमी, मार्क्सवादी नागार्जुन एवं गांधीवादी भवानीप्रसाद मिश्र तथा भगवतीचरण वर्मा, अथवा शक्ति के गायक दिनकर कोई भी इसके अपवाद नहीं हैं। हमारी इस भाषा में गाव की गंध, मजदूर की महक और शिक्षित व्यक्ति की बोल चाल की भाषा का रासायनिक समन्वय हो रहा है।

ऊपर मैं कह चुका हूँ कि नाना प्रकार की परिस्थितियों एवं गति विधियों के मध्य हमारे साहित्य ने भी अनेक मोड़ लिये हैं। इन मोड़ों के मध्य कुछ छोटी-बड़ी और भी उपलब्धियाँ अर्जित की गई हैं और उनके आधार पर अगले चरण को शक्ति मिली है। इस प्रकार की विशेषताओं

छायावादी कल्पना-दृष्टि और भाव-प्रवणता का प्रमुख स्थान है। विद्वान् अध्येताओं का कहना है कि कल्पना का ऐसा उन्नत और प्रचुर प्रयोग तथा भावोच्छ्वासों का ऐसा अंकन पूरे हिन्दी साहित्य में हमें उपलब्ध नहीं होता। ज्यों-ज्यों विज्ञान का प्रसार बढ़ता जायगा त्यों-त्यों कल्पना की यह ऊँची उड़ानें कम पड़ती जायँगी—क्योंकि कल्पना अज्ञात और अनुपस्थित की होती हैं जबकि विज्ञान ज्ञान और उपस्थित का क्षेत्र दिन-दिन बढ़ाता जा रहा है। परन्तु कल्पना का उपयोग भविष्य में साहित्य में दूसरे ढंग पर होगा। साहित्यकार अपनी कल्पना-शक्ति का उपयोग यथार्थ का निर्माण करने में, चरित्र में प्राण एवं प्रतिनिधित्व की प्रतिष्ठा करने में तथा जीवन के विविध आयामों को अपनी कलाकृति के भीतर समेटने के प्रयत्न में करेगा।

इस युग के काव्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति है—यथार्थ की दृष्टि का आग्रह। यथार्थ का इतना बड़ा आग्रह कलाकार के सम्मुख सम्भवतः किसी युग में नहीं रहा है। हमारा आज का नारा यथार्थ का नारा है। पं० नन्ददुलारे बाजपेयी जैसे भाववादी समीक्षक का कहना है कि उन्होंने कुछ देर से (कामायनी काव्य के पढने के बाद) यह जानकारी प्राप्त की कि आदर्श से बढ़कर भी यथार्थ नाम की कोई वस्तु हो सकती हैं। इसके कारण ही पंत जी ग्राम-श्री से अभिभूत होते हैं, धरती के सेम के बीज को अमर करते हैं और धोबियों के नृत्य में रस लेते हैं। बच्चन चोटी की बरफ का, धरती में मिलने के लिये, आवाहन करते हैं। भगवतीचरण वर्मा ने मानव की पुकार ही नहीं सुनी भैंसागाड़ी की 'चूँ चरर-मरर' को भी उतनी ही तन्मयता से ध्वनित किया है। गिरजाकुमार माथुर ढाकबनी को शाप-मुक्त करते हैं तथा अज्ञेय दफ्तर और शाम में यन्त्रों के नीचे पिसते हुए मानव की दयनीय अवस्था को उपस्थित करते हैं; तथा शिवमंगल सिंह 'सुमन' 'आज देश की मिट्टी बोल उठी है' कहकर उस आवाज को सुनना ही नहीं, रूप भी देना चाहते हैं।

इस यथार्थवादी दृष्टि ने काव्य को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है। जनसमाज की ओर हमारी बढ़ती हुई रुचि ने तथा नृतत्व शास्त्र, समाज-शास्त्र आदि ज्ञान की शाखाओं ने हमे लोक साहित्य के सम्पर्क में ला खड़ा किया। लोक-साहित्य से हमने काव्य-रूप और पदावली ही नहीं ली, उनकी सहजता एवं सोंधेपन को भी ग्रहण किया है। यथार्थ की इस प्रतिष्ठा ने एक ओर व्यक्ति के अन्तरमन को उघाड़ कर सम्मुख रखा, दूसरी ओर व्यक्ति और समाज के नाना प्रकार के सम्बन्धों एवं समाज की विविध स्थितियों को हमारे सम्मुख उपस्थित किया। परिणाम यह कि हमने किसी भी वस्तु या भाव को अनिवार्यतः काव्योपयुक्त अथवा अकाव्योपयुक्त मानने से इंकार कर दिया

है। इसी कारण काव्यमें क्षुद्र की भी प्रतिष्ठा हुई। अब मन का 'अनिश्चय' भी कविताका विषय है, मनुष्य के विविध मूड्स की सूक्ष्मता से अभिव्यक्ति की जाती है तथा सिगरेट की राख और अपशकुन पर भी सीरियस कविता लिखी जा सकती है। इस तथ्य ने हमारी सारी कल्पना, बिम्बविधान तथा संघटन के रूप को बदल दिया है। काव्य की विषय-वस्तु का व्यापक प्रसार हुआ। कवि ने जीवन की नयी संवेदनाओं को पहचाना है, नये कूलों एवं कगारों का स्पर्श काव्य-गंगा ने किया है।

ऊपर हमने अपनी भाषा की अभिव्यंजन क्षमता का जिक्र किया है, जितनी महत्वपूर्ण प्राप्ति यह सामर्थ्य है उससे कम महत्वपूर्ण वह कौशल नहीं है जिसके माध्यम से यह क्षमता प्रकाश मे आयी है। मात्रा, वर्ण, तुक, यति और गति के नियमों मे बंधे छन्दो से लेकर छन्द-मुक्त तक सभी प्रकार की रचनाओं का सृजन हुआ है। प्रारम्भ में खडी बोली के अनुरूप छन्द ढूंढने और छन्द के अनुरूप खड़ी बोली को मोडने के अनेक सफल-असफल प्रयत्न किये गये। इस काल मे (द्विवेदी युग) में विषयानुगत छन्द संघटन बहुत प्रमुख रूप से नही उभरा। भाषा का प्रश्न मुख्य हो उठा था। व्यक्तिवाद का वह प्रारम्भ जो १९वीं शताब्दी मे प्रारम्भ हो गया था अपनी श्रेष्ठतम सीमा पर छायावाद मे पहुचा। इस युग के छन्द-संघटन मे संगीतात्मकता एवं वैयक्तिक स्वच्छन्द-वृत्ति को प्रकाशित करने वाले छन्दों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। यहाँ से छन्द मे जो मोड़ आता है वह भाषा या विशेष पदावली से उतना संबन्धित नहीं है जितना कि विषय के अनुरूप है। अपने हृद्गत भावों की अभिव्यंजना के लिये उसके अनुसार छन्द मे अनेक मोड़ दिये जाने लगे। निराला जी और पन्त जी दोनों मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है। वास्तव में यह छन्द सम्बधी सबसे बड़ा परिवर्तन था। यही से मुक्त छन्द (या छन्द-मुक्त) काव्य का बीज पड जाता है। इस छन्द-मुक्तता का आधार ही यह विषय की अनुरूपता (लय के भीतर) है। अस्तु, आत्मपरक भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाले इन छन्दों का चरम विकास गीतों मे होता है। गीत को पूर्णता तक पहुचाने के प्रयोग छायावादी चतुष्टयी के अतिरिक्त, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, सुमन, शम्भूनाथ सिंह, नीरज जैसे कवियों ने अत्यन्त सफलतापूर्वक किये। गीतो ने हमारे साहित्य को सफल वैयक्तिक अभिव्यंजना ही नहीं दी है उसने खड़ी बोली मे एक नये संगीत को संवारा तथा काव्य-साहित्य को जनप्रियता भी दी, इसके अतिरिक्त यह सामाजिक स्वर का भी एक सशक्त माध्यम बनकर सम्मुख आया। परन्तु जब तक यह सामाजिक स्वर सतह की घोषणा का रहा तब तक तो गीत विकसित होता रहा फिर धीरे-धीरे उमका

पंक्तियों की नियमितता टूटने लगी। मुक्तछन्द की कविता का प्राधान्य बढ़ने लगा। इस बीच गीत भी काफी मात्रा में और अच्छे लिखे जाते रहे परन्तु नये-पुराने सभी कवियों ने काफी सरगर्मी से इस मुक्त दिशा में प्रयास किया। इस सरगर्मी के कारण एक प्रकार की अराजकता भी इस क्षेत्र में आयी। कुछ दिनों पूर्व श्री प्रभाकर माचवे का एक अत्यन्त विचारपूर्ण निबन्ध 'हिंदी मुक्त छन्द' प्रकाशित हुआ था। माचवे जी ने इसमें नये काव्य के छन्द-विधान से संबंधित कुछ अत्यन्त मौलिक प्रश्न उठाये थे।

वास्तव में काव्य में प्रयुक्त छन्दों की भी एक सामाजिक पृष्ठभूमि होती है। प्रत्येक युग की संवेदनाओं को भली प्रकार से अभिव्यक्त करने के लिये अपना एक छन्द चाहिये। इस बात को स्पष्ट करने के पूर्व एक बात कह देना चाहता हूँ कि छन्दों की यह सामाजिकता किसी यान्त्रिक ढंग से छंद को प्रभावित नहीं करती और न उसमें अचानक कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, तथा सामाजिक स्वरूप के अतिरिक्त अन्य प्रभाव (संगीत के नये प्रयोग, दूसरी भाषाओं के छन्दों आदि के प्रभाव) भी पड़ते हैं। छन्दों की सामाजिकता वाली बात का ठीक से विश्लेषण करने के लिये यहाँ मैं हिन्दी छन्दों के तीन प्रमुख टाइपों, सवैया, गीत और मुक्त छन्द का संक्षेप में विश्लेषण करने का प्रयास करूँगा। सवैया या घनाक्षरी में पूरे छन्द का ढाँचा अन्तिम पंक्ति पर खड़ा होता है। मुख्य बात अन्तिम पंक्ति है। शेष तीन पंक्तियों में लगभग हर पंक्ति में अलग-अलग एक चित्र होता है और वे तीनों चित्र अन्तिम पंक्ति से संबन्धित होते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि छन्द का यह संघटन ऐसी व्यवस्था के भीतर उचित था जहाँ पर कि अपेक्षाकृत सादगी थी, संवेदनाएँ अधिक जटिल नहीं थी और सुनने वाले को इतना अवकाश था कि चौथी पंक्ति की जोरदार बात सुनने के लिये तीन पंक्तियों का धैर्य आनन्दपूर्वक धारण किये रहे। यहीं पर इनके पढ़ने के ढंग पर यदि विचार किया जाय तो भी एक मजेदार बात सामने आती है: सवैया आदि छन्द सदैव दो बार कवि पढ़ता है। क्योंकि दूसरी बार सुनने के बाद ही समस्त पंक्तियों की पूरी संगति समझ में आती है। यह भी अपेक्षाकृत अवकाश की सम्यता को सूचित करने वाली बात है। गीत वास्तव में कई छन्दों (ये छन्द एक ही नियम के अनुसार चलने वाले अथवा पृथक्-पृथक् हो सकते हैं) के समुच्चय को कहते हैं। इन्हें पद या स्टैंजा भी कहते हैं। बजाय पंक्ति के, गीत के इन प्रत्येक छन्दों में एक पूरा चित्र दिया जाता है या बात कही जाती है तथा मुख्य बात प्रथम पंक्ति में रहती है जिससे कि प्रत्येक पद या छन्द का कथन संबंधित रहता है। बहुधा गठन के इस ढंग के कारण

गीत में कथन की एकतानता (Uniformity) नष्ट हो जाती है और प्रत्येक पद अपने आप में स्वतन्त्र-सा दीखने लगता है। यह विशेष रूप से तब होता है जब कवि के पास आत्म-परक (Subjective) दृष्टिकोण की वास्तविक सम्पत्ति नहीं होती और वह वस्तुगत दृश्य-विधानों को अपने रंग में रंग नहीं पाता। ऐसी स्थिति में इन बाह्य दृश्य विधानों से आकर्षित हो वह चित्रण तो कर जाता है पर बीच में वे असम्पृक्त रह जाते हैं। गीत का यह विधान सवैया की अपेक्षाकृत अधिक जटिल व्यवस्था एवं सवेदना को सूचित करता है। इसका संघटन व्यक्तिवाद की भावनाओं, कल्पनाओं को अधिक समर्थ अभिव्यक्ति दे सकता है। गीत की प्रथम जोरदार पंक्ति से यह भी अर्थ आप निकाल सकते हैं कि इस युग का पाठक या श्रोता पहले मुख्य बात का वजन जानकर तब अपना समय खर्च करना चाहता है क्योंकि उसके पास अवकाश का अभाव हो चला है। मुक्त छन्द में प्रारम्भ, अन्त अथवा मध्य में जोरदार बात का प्रश्न नहीं उठता, उसमें पूरे छन्द में बात फैला कर भी कही जा सकती है और अलग अलग टुकड़ों में भी उसे विश्लेषण-प्रवण प्रवृत्ति के साथ विभाजित करके कहा जा सकता है। आज के युग के व्यापक एवं जटिलतर मानसिक एवं बौद्धिक संवेदनों को अभिव्यक्ति देने के लिये यह अधिक बड़ा कैन्वास है, तथा प्राचीन क्लासिकल संगीत से पृथक् नयी सांगीतिक व्यंजनाओं को भी संभवतः यह दावा अधिक अपना सकेगा। इस छोटे से निबंध में इन सब संबंधों के पारस्परिक विश्लेषण को उपस्थित करना सम्भव नहीं है। परन्तु मैं छन्द-शास्त्रज्ञों, संगीतज्ञों एवं सामाजिक व्याख्याताओं से अनुरोध करूंगा कि वे इस दृष्टि से भी छन्द पर विचार करें। माचवे जी ने भी अपने निबंध में अनेक विचारणीय प्रश्न उठाये हैं। यहां पर इस संबंध में मैं केवल इतना कहना चाहता हूँ कि छन्द के विधान में नये भाव और विचार की अनुरूपता तथा लयात्मकता की निश्चित रूप से रक्षा होनी चाहिये। मेरा अपना विश्वास है कि इस अराजक परिस्थिति में भी धीरे-धीरे बाढ़ उतरने पर कहीं अधिक सशक्त एवं व्यवस्थित मुक्त छन्द के रूप का विकास हो सकेगा। आज भी पुष्ट मुक्त छन्दों के रूप हमारे काव्य में विरल नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त पिछले १०–१५ वर्षों में अप्रस्तुत विधान के लिये नये मूर्त और अमूर्त दृश्य प्रचुरता से हमारे साहित्य में प्रयुक्त हुये हैं। बल्कि इधर तो इस नवीन रूप-योजना से हमारे कतिपय समीक्षक आतंकित हो प्रयोगवाद को इसी आधार पर खोटा सिक्का बनाना चाहते हैं। हर्बर्टरीड के शब्दों में कहा जा सकता है कि आधुनिक कविता में रूपक, उपमा आदि

अलंकारों से ऊपर उठ कर एक नये प्रकार के अलंकार को प्राप्त ि
है जिसे "बिम्ब" (Image) कहा जा सकता है। जैक्वेस मैरीटैन ने रू
और बिम्ब के अंतर को बताया है कि "रूपक" में एक ज्ञात वस्तु की तुल
मे दूसरी ज्ञात वस्तु को लाकर प्रथम को दूसरी की सहायता से ठ
से अभिव्यक्त किया जाता है। बिम्ब एक की खोज करता है दूस
की सहायता से, तथा दोनों के साम्य से अज्ञात को ज्ञात बनाता
परन्तु यह कोई तार्किक साम्य नहीं होता। हमारे काव्य में इस प्रक
का बिम्ब-विधान अज्ञेय, शमशेर, माचवे, केदारनाथसिंह तथा नरेश मेहता त
अन्य अनेक नये कवियों मे प्राप्त होता है। गिरजाकुमार तथा भारती बि
विधान के धनी हैं पर उनके बिम्ब रूपक के अधिक निकट पहुंचते हैं।
लोगों को प्रसाद एवं पन्त की परम्परा में इस दृष्टि से रखा जा सकता
जबकि अज्ञेय आदि को निराला जी की परम्परा में। अस्तु बिम्ब-विधान
दृष्टि से "नयी कविता" अत्यधिक समृद्ध है। आजकी कविता मात्र चित्र
गयी है। ये चित्र बहुधा समान अनुभूति (साधारणीकरण) की परिपाटी भ
नहीं स्वीकार करते। चित्र उपस्थित करके कवि यह बात पाठक पर छोड़ देत
है कि अपनी मन:स्थिति के अनुरूप भाव जगा ले।

द्विवेदीयुगीन काव्य-रूपों की चरम परिणति साकेत में हुई और
छायावादी काव्य रूपों की कामायनी मे। इन्हें महाकाव्य के पुराने लक्षणो
पर कसा जाता है पर ये नये काव्य-रूप हैं। इधर पिछले कुछ वर्षों में अंग्रेजी
के प्रभाव से एक नये काव्य-रूप का जन्म और विकास हमारे यहाँ हुआ
है। इसे छन्द-नाटक या काव्य-रूपक (*Verse-Drama*) कहा जाता
है। इस रूप को रेडियो से बहुत अधिक बल मिला है। इसकी शक्ति का
अनुमान इसी से किया जा सकता है कि पन्त, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर
भट्ट जैसे पुराने कवि भी इसकी ओर आकर्षित हुये तथा गिरजाकुमार,
भारती और सिद्धनाथकुमार जैसे नये लोग भी। इसकी सम्भावनायें विराट
हैं क्योंकि अपने नाटकीय ढांचे के कारण नयी वैज्ञानिक उपलब्धियों को
जितनी स्वाभाविकता से यह रूप अपना सकता है उतना अन्य कोई
विधा नहीं।

आधुनिक युग में आकर साहित्य की सभी विधाओं में राजनीति का
स्वर मुखर हुआ है। राजनीति का यह [illegible] स्वर राष्ट्रीय स्तर से
ऊपर उठ कर विश्व के द्वन्द्वों तक पहुंचा है। [illegible] से लेकर
विचारधाराओं के [illegible] प्रभाव तक सभी आते हैं। विचार सम्बन्धी

आदान-प्रदान के साधनों की सहज उपलब्धि के कारण तथा बढ़ती हुई सामाजिक चेतना इस स्वर को और अधिक पोषित रूप में फिलहाल सामने लावेगी, ऐसी आशा की जा सकती है। यह स्थिति सम्भवतः काव्य के लिये संकट की द्योतक भी नहीं होगी।

रीति-काव्य के बाद जब हम अपने आधुनिक काव्य साहित्य को पढ़ते हैं तो एक तथ्य स्पष्ट रूप से सामने आता है कि चरित्र-सृष्टि निर्जीव पेटैण्ट टाइप से ऊपर उठी है। इस दिशा में समाज-शास्त्र और मनोविज्ञान की बहुत बड़ी देन है—फिर भी प्रेमचन्द के अतिरिक्त पूरे साहित्य में अभी तक ऐसे प्रयत्न नहीं के बराबर हुये हैं जिनमें समाज की गत्यात्मक स्थिति के भीतर सचेतन मनुष्य की क्रियाशीलता को, उसकी शक्ति और सृजन-प्रतिभा को भलीभाँति आँका जाय। भविष्य के प्रयत्न इस दिशा में होने वाँछनीय हैं। इनकी प्रणाली दुहरी होती है—एक ओर तो कवि अपने व्यक्तित्व का निर्व्यक्तीकरण करता है और दूसरी ओर निर्व्यक्तित्वों को व्यक्तित्व का असली जामा पहनाता है।

हमारे साहित्य की (सम्भवत. अन्य समकालीन साहित्यों की भी) एक सबसे बड़ी कमी है किसी सुव्यवस्थित जीवन-दृष्टि का अभाव। यद्यपि प्राचीन दार्शनिक मतवादों के अतिरिक्त पश्चिमी दर्शनों (काण्ट, हीगेल, नीत्शे, फ्रायड, मार्क्स, किर्केगार्ड, हेडेगर आदि) का भी अध्ययन किया गया। परन्तु छिटपुट प्रयत्नों के अतिरिक्त अभी तक एक सगठित जागतिक दृष्टिकोण (World out-look) नहीं बन पाया। प्रसाद जी ने एक सुव्यवस्थित दर्शन की सृष्टि करनी चाही थी; पर सम्पूर्ण छायावादी काव्य में व्यापक परिप्रेक्ष्य का अभाव सा है तथा उस काल के दार्शनिक—सामाजिक चिन्तन की तथा ज्ञानक्षेत्र की अपनी सीमायें भी हैं। आज के कवि का सबसे महत्व-पूर्ण प्रयास यथार्थ-दृष्टि के आधार पर निर्मित हुई जीवन-दृष्टि (Vision) की उपलब्धि होना चाहिये।*

आधुनिक काव्य पर सबसे बड़ा आक्षेप है लोक-अप्रिय होना। इसके कारण हैं जिनकी विस्तृत विवेचना यहाँ पर बहुत समीचीन नहीं है। परन्तु

*यह निबन्ध कुछ समय पूर्व लिखा गया था। जिस जीवन-दृष्टि की कमी की शिकायत मैंने इस निबन्ध में की है, उसे प्राप्त करने की अनवरत चेष्टा इस बीच में की गयी है। वीरेन्द्रकुमार जैन भारती, गिरिजाकुमार माथुर, भवानीप्रसाद मिश्र आदि के प्रयत्न इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं।

इतना निश्चित है कि आज काव्य के बिम्ब-विधान को एक लो सुलभ चेतना तथा लोक-सुलभ कल्पना (General Consci usness and General Imagination) प्राप्त नहीं है परन्तु भविष्य में ज्यों ज्यों देश की निर्माण-योजनायें सफल हों व्यवस्था एवं सम्पन्नता आवेगी तथा नये जीवन-मूल्यों की स्थापना हो जावेगी, तथा विज्ञानजन्य उपकरण जीवन के अनिवार्य अंग बनते जाव त्यों-त्यों उपर्युक्त दोनों बातों की भी प्रतिष्ठा होती जावेगी। का की इस लोक-कल्पना और लोक-चेतना की स्थापना के द्वारा कविता व वर्तमान लोक-अप्रियता भी समाप्त हो सकेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रयोगवाद : परम्परा का विकास

हिन्दी में प्रयोगवाद की चर्चा सन् १९४३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन से प्रारम्भ होती है। यह संकलन ग्रन्थ है जिसमें सात नये कवियों की प्रकाशित-अप्रकाशित रचनाएँ संकलित की गयी हैं। इसके मानी हैं कि प्रयोगवादी रचनाएँ सन् ४३ के पूर्व ही प्रकाश में आने लगी थी, पर ध्यान 'सप्तक' के प्रकाशन के बाद ही उधर केन्द्रित हुआ।

ऐतिहासिक दृष्टि से प्रयोगवाद के बीज उस उत्तर-छायावादी गीतिकाव्य में विद्यमान हैं जो अस्पष्टता और अरूप वैयक्तिकता के विपरीत स्पष्ट आत्माभिव्यंजन एवं प्रणयभंगिमा लेकर आया था; अथवा स्फीत कल्पना के स्थान पर यथार्थ एवं आकांक्षा के नये धरातलों को पकड़ने की चेष्टा कर रहा था। पन्त, निराला, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, रामविलास एवं अज्ञेय की सन् ३७ के बाद की कविताओं में इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों का पृथक्-पृथक् अथवा समन्वित प्रभाव दिखाई देता है। सन् १९३९ में 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में नरेन्द्र शर्मा द्वारा प्रकट किये गये मन्तव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने 'प्रवासी के गीत' में संग्रहीत रचनाओं को हिन्दी गीतिकाव्य के उत्तरार्ध में रखते हुए पूर्वार्ध के कवियों को प्रधानतः 'सौन्दर्योपासक' तथा असीम अनन्त के अनुयायी बताया। इनमें भी "सौन्दर्योपासकों में से कुछ की रुचि काव्य में भी प्रकार-योजना में नयेपन तथा विलक्षणता की ओर गयी।" (यह संकेत निराला-पंत की ओर है।) आगे समसामयिक परिस्थितियों का विवेचन करते हुये कवि नरेन्द्र का कहना है, "ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था। निराशावादियों और नियतिवादियों के आगमन से हिन्दी गीति-काव्य का उत्तरार्ध शुरू होता है।" कहना न होगा कि प्रयोगवादी रचनाओं के मूल में आलोचकों ने बहुधा निराशा, कुण्ठा और पलायन को ढूंढना चाहा है। यह वह ऐतिहासिक परिस्थिति थी, जो मध्यम वर्ग के कवि को प्रभावित कर रही थी, जिसमें आसन्न युद्ध का संकट, राष्ट्रीय आन्दोलन की निराशा, मध्यम वर्ग की गिरती हुई अवस्था और शिक्षित-जन की हताशा मिली हुई थी।

प्रयोगवाद या नयी कविता पर इलियट आदि पश्चिमी कवियों के प्रभाव की बहुधा चर्चा होती है पर सन् ३९ की मई में लिखी उपरोक्त

भूमिका के अगले पैराग्राफ में ही नरेन्द्र जी ने लिखा है, "जिनकी दृष्टि अन्तर्मुखी थी उन्हें सब हालोमैन के रूप में दिखाई पड़े और जिनकी प्रवृत्तियाँ बहिर्मुखी थीं उनके सामने वेस्टलैंड का प्रसार था।" वास्तव में यह होरी की निराशा और मनु की प्रलय-विषण्ण प्रकृति थी जो अब और अधिक संकुचित होकर मध्यवर्गीय व्यक्ति के मन के "एकान्त" में पैठ गयी थी। बकौल नरेन्द्र शर्मा, "हम देखते हैं कि उत्तरार्ध का निराशावाद बराबर अधिक भीषण होता जाता है। इसका प्रधान कारण यही था कि बाहर-भीतर के असन्तोष के कारण कवि की प्रवृत्तियाँ उसके भीतर केन्द्रीभूत होती गयीं, आहत अहंकार ने उग्र रूप धारण कर लिया और कवि निराशा से चीत्कार कर उठा।... ... . यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियों के व्यक्तीकरण के साधन बाहर समाज में नहीं मिलते तब वह जैसे बाहर ठोकर मारकर, अपने लिये अपने ही भीतर कामनाजन्य भावनाओं और कल्पनाओं का एक संसार बना लेता है। लेकिन कल्पना उसका कब तक साथ देगी ? शाम के रंगीन बादलों सी यह कल्पना बालू की भीत सी भी तो नहीं है। उसकी आत्म चेतना, उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं से टकरा कर गतिरुद्ध हो जाती है, और उसके अन्तर में धुएँ की तरह घुमड़ने लगती है। जैसे-जैसे वह 'आज मुझसे दूर दुनियाँ' का अनुभव करता है उसका अहंभाव और तीव्र गति से जाग्रत होता जाता है।" इस लम्बे उद्धरण के देने का तात्पर्य है कि उस समय के इस सजग कवि का आत्मालोचन (जो काफी दूर तक सही है) उपस्थित किया जा सके। पर नरेन्द्र जी ने समस्या का एक ही पहलू उपस्थित किया है। इस आहत अभिमान के संक्रमण का एक अन्य क्षेत्र भी था जहाँ वह अपने व्यक्ति को एकदम भुलाकर आवेश में तोड़-फोड़, क्रान्ति आदि के नारे लगाता है। व्यक्ति वही मध्यवर्गीय है, समस्याएँ, परिस्थितियाँ और प्रभाव भी वही हैं, केवल अभिव्यक्ति का रूप बदल गया। एक आत्म-केन्द्रित हो गया और दूसरा भीतर से खोखला। एक अपने को नष्ट करना चाहता है और दूसरा सारी दुनियाँ को एक ही मुक्के में चूर-चूर। एक अपने को संसार का सबसे अधिक प्रतिभाशाली महान व्यक्ति मानता है, दूसरा अपने को सबसे अधिक शक्तिशाली और वरेण्य स्वीकार कराना चाहता है। यह दोनों प्रवृत्तियाँ एक दूसरे से घुली मिली रहीं—एक पीढ़ी के कवियों में, एक ही कवि में भी, उनका स्वस्थ सामाजिक आधार पर समन्वय सन् ५० के बाद 'नयी कविता' में ही हो सका है। ये दोनों भूमिकाएँ ही प्रयोगवाद और प्रगतिवाद कही गयीं हैं।

संक्षेप में उपर्युक्त भूमिका के अन्तर्गत उन सभी तत्वों की ओर संकेत
या है जिन्होंने प्रयोगवादी काव्य को जन्म दिया। यह हम आगे देखेंगे
कल्पना के स्थान पर उस कौन-सी नयी शक्ति का सहारा नये कवियों
मिल गया जिनसे उनका काव्य 'क्षयी रोमांस' से बच गया तथा 'अन्तर
अविश्वास (भाग्यवाद) तथा दुःखवाद को तोड़' नहीं तो पचा अवश्य
। 'नयी कविता' में दुःख और पीड़ा की पूजा भी है तथा अविश्वास
अनास्था का स्वर भी—परन्तु यह दोनों उत्तर-छायावादी गीत-काव्य
निराशा और अविश्वास से भिन्न हैं, इनका विस्तार से विवेचन यहाँ पर
संगिक रहेगा। यहाँ पर तो हमें प्रयोगवाद की मानसिक पीठिका पर
। उन कविताओं को देखना है जिनकी परम्परा 'प्रयोगवाद' में आयी है।
८ ई० में पंत को यह नवदृष्टि मिली थी कि—

घुल गये छन्द के बंध
प्रास के रजत पाश
अब, गीत मुक्त
औ युगवाणी बहती अयास।
बन गए कलात्मक भाव
जगत के रूप नाम।

युगवाणी की यह 'अयासगति' हिंदी-काव्य के विकास में महत्वपूर्ण
है। छायावाद की भाषा रचना और पालिश में बोझिल होकर प्रयास-
हो गयी थी। उसे जीवन की सहज-अयासगति की ओर आना पड़ा।
यार्थ की गहरी होती हुई चोट का तकाजा था जो जीवन के हर क्षेत्र
रहस्यों को छोड़कर पृथ्वी की ओर खींच रहा था। छायावाद की
नेक संभावनाओं से हीन कल्पना-बहुल और बोझिल भाषा का नहीं
। के उद्‌घाटन को वहन करने वाली अनिभीता और प्रेमचन्द की सह-
ने समेटने वाली भाषा का विकास हो रहा था। बच्चन, नरेन्द्र के
ई योवकाल का वही युग है। 'अनामिका' (निराला) में प्रकाशित
बेला की भाषा में भी यही गुण विद्यमान है—

लोग गाँव-गाँव को चले
कोई बाजार, कोई बरगद के पेड़ के तले
जाँघिया, लंगोटा ले सँभले
तगड़े-तगड़े सीधे नौजवान

मार्च सन् ३९ के 'रूपाभ' में 'अनामिका' की समीक्षा करते हुए डा०
राम शर्मा का ध्यान ऐसे पदों की भाषा की कर्कशता और ठेठपन

की ओर गया था। उस काल के इस सचेत समीक्षक का निम्न मन्तव्य उस समय की बढ़ती हुई रुचि का परिचायक है,—'युग की प्रगति देखते ऐसा जान पड़ता है कि नौजवानों को यह कर्कशता और भाषा का यह ठेठपन ही आगे अधिक प्रभावित करेगा।' रामविलास जी का अनुमान व्यर्थ नहीं गया। प्रयोगवादी काव्य में भाषा का भदेसपन भी आया और डा० नगेन्द्र जैसे समीक्षकों को यह भदेसपन अखरा भी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि सूक्ष्म, श्रुतिप्रिय एवं तत्सम पदावली प्रधान भाषा निःशेष हो गयी। निराला और पन्त की भाषा का आभिजात्य-स्वर 'अज्ञेय' आदि में विकसित हुआ। परन्तु यह स्वर मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं की व्यंजना के एक नए स्तर पर घटित हुआ। कल्पनाशीलता के स्थान पर प्रौढ़ता एवं गरिमा भाषा के गुण बने। निराला और अज्ञेय के इन दो अंशों की तुलना कीजिए—

(१) मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार,
नहीं जानती क्यों तू इतना करती मुझको प्यार।
तेरे सहज रूप से रंग कर,
झरे गान के मेरे निर्झर,
भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार।
(प्रिया से : निराला)

(२) आँसू से भरने पर आँखें और चमकने लगती हैं।
सुरभित हो उठता समीर, जब कलियाँ झड़ने लगती हैं।
बढ़ जाता है सीमाओं से जब तेरा यह मादक हास।
समझ तुरत जाता हूँ मैं—अब आया समय विदा का पास।
(इत्यलम् से अज्ञेय)

पाठक देखेंगे कि दोनों में ही रूपनिर्माण की भंगिमा एक विशेष अभिजात गरिमा से युक्त है। 'प्रवासी के गीत' में नयहीन, 'क्या जगत में भ्रान्ति ही है ?' में भी इस व्यापार-शैली का रूप विद्यमान है। तथा निम्नलिखित कविता में उन छोटी-छोटी भाव-वृत्तियों (Short moods) को पकड़ने का प्रयास दिखाई देता है जिन्हें आगे चलकर प्रयोगवाद और 'नयी कविता' ने एक विशिष्टता के रूप में उपलब्ध किया—

कल दिन में मैं कमरे में था, था किन्तु तुम्हारा आकुल!
इस बार को तो दिन भर के सब पर भूल गया अमधुन!
सहसा सहेज दीवार पर आई हल्की सी छाया,
मुख ऊपर उठी हो आह, हरिण-सा चपल चौंक बह आया!

पर मुड़ कर जब देखा, बाहर फिर धूप विहँस कर निकली,
मेरे मन में सुधि थाई थी, छाई थी रवि पर बदली।

इस कविता में सामान्य बोल चाल की रीति (Diction) तथा भाषा की अनलकृत सहजता के साथ आत्मचेतन कवि का आत्म-कथ्य भी दृष्टव्य है। नरेन्द्र की 'तुम्हें याद है क्या उस दिन की' प्रसिद्ध कविता भी इसी श्रेणी की है जिसमें बातचीत की लय एवं अकृत्रिम भाषा के भीतर उस छोटी सी स्मृति को सजीव किया गया है जिसने सारे जीवन को सुरभित कर दिया है। पूरी कविता में एक भी उपमान नहीं है पर सम्पूर्ण कविता द्वारा जो एक सम्पूर्ण क्रियाशील बिम्ब (Functional image) हमारे सम्मुख खड़ा होता है वह नये काव्य की मूल्यवान् सपत्ति है और छायावाद की उपमान-बहुलता से काफी आगे बढ़ा हुआ कदम भी है।

उपमान और चित्र की बात आ गयी तो फिर तनिक निराला की ओर लौट चलें क्योंकि 'कवि' संपादक का यह कथन उचित ही है कि 'नयी कविता' के विकास की अनेक धाराओं का मूल निराला का काव्य ही है। 'नयी कविता' के कवि उस धारा के ही नये व्यक्तित्व हैं। निराला की अलंकरण शैली की श्रेष्ठ कविता 'सध्या सुन्दरी' से सभी परिचित है—

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे-धीरे।
तिमिराञ्चल में चञ्चलता का कहीं नहीं ?
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु जरा गम्भीर,—नहीं हैं उनमें हास वि
हँसता है तो केवल तारा एक
गुंथा हुआ-उन घुंघराले काले-काले बालों
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभि
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली
सखी नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह
छाँह सी अम्बर-पथ से चली।
अर्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब सं
कवि का बढ़ जाता अनुराग,

विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।

ठीक इसी कविता की परम्परा में ऐसी ही कविता एकदम नये कवि कुँवर नारायण की है. दोनों की भावभूमि भी लगभग एक है, पर भाव को जिस 'टोन' में कहा गया है वह तो नया ही है साथ ही बिम्ब की स्फीतबहुलता सिमट कर अपेक्षाकृत अधिक मितव्ययी बिम्ब में बदल गयी है। कविता है—

ओस-न्हाई रात
गीली सकुचती आशक,
अपने अंग पर शशि-ज्योति की सस्निग्ध चादर डाल
देखो
आ रही है व्योमगंगा से निकल
इस ओर
झुरमुट में संवरने को..............दबे पाँवों

* * * *

कामना
कुछ व्यथा
भावों की सुनहली उमस,
चंचल कल्पना
यह रात और एकान्त..............
छन्द की निश्चित गठन से जब सभी
समान जुट आये
फिर भला उस याद ही ने क्या बिगाड़ा था
..........कि वो न आती ?

परन्तु इन दोनों कविताओं के मध्य 'अनामिका' काल (सन् १९३८-३९) में स्वयं निराला की कविताओं में इमेजिस्ट संप्रदाय की यह मितव्ययिता यथार्थ के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण आ गयी थी। यह कड़ी दृष्टव्य है जिसमें नारी-रूप-वर्णन में कवि भावाकुल नहीं हो उठा:—

नहीं छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,

करती बार-बार प्रहार:—
सामने तरुमालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप,
गर्मियों के दिन
दिवा का तमतमाता रूप,

(वह तोड़ती पत्थर : निराला)

छन्दों के बारे में निराला के मुक्त छंद-प्रयोग को पन्त, नरेन्द्र शर्मा और आगे चल कर अंचल और बच्चन ने ही नहीं स्वीकार किया, स्वयं प्रसाद जी ने मुक्त छन्द को अपनाया था। बाद में द्वितीय महायुद्ध की कड़वाहट और अतिरिक्त बौद्धिकता एवं काव्य के अनेकमुखी रूपों ने छन्दों को मुक्त होने में कहीं अधिक सहायता दी।

एक बात और : 'जब जगत के विविध रूप नाम कलात्मक भाव' (पन्त के पीछे उद्धृत कविता) बनने लगे तभी उसमें अब तक अकाव्यात्मक मानी जाने वाली अनेक क्षुद्र वस्तुओं (Trivials) का प्रवेश हुआ। स्वयं पन्त जैसा संस्कारी कवि 'गोम' 'चींटी' 'दो लड़के' आदि कविता के विषय बनाता है तथा निराला तो आदि विद्रोही था ही। इस प्रकार काव्य-क्षितिज को नया विस्तार मिला। ठूंठ भी कविता में आया और किसान की नयी बहू की आँखें भी, एवं 'द्वितीया नायिका के प्रति' (अज्ञेय) कहे गये नितान्त अनूठी अनुभूतियों वाले वचन भी परिगणित हुये।

'रूपाभ' में फरवरी '३९ में ही भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' यथार्थ का नया विस्तार लेकर उपस्थित होती है और आसन्न महायुद्ध की पृष्ठभूमि पर अप्रैल-मई '३९ में रामविलास शर्मा की 'विश्वशांति' 'रूपाभ' में ही प्रकाशित हुई। यह कविता बाद को तारसप्तक में संकलित रूप में भी आई। इस काल में शमशेर, केदार अग्रवाल, गिरजाकुमार आदि की भी कविताएँ बराबर प्रकाशित हो रहीं थीं।

ऊपर हम इलियट के 'हालोमैन' और 'वेस्टलैण्ड' का जिक्र कर चुके हैं। परन्तु इस युग में (१९३०-४०) इङ्गलैण्ड में 'माडर्निस्ट' आन्दोलन जोर पर था और वहाँ भी मार्क्सवाद तथा वैज्ञानिक उपादानों को काव्य के उपकरण-रूप में ग्रहण करने की विशेष प्रवृत्ति थी। सेसिल डे लेविस, ऑडेन, स्पेण्डर, लुई मैकनीस आदि कवि-लेखक इस आन्दोलन के पुरस्कर्ता थे। हिन्दी में भी इस आन्दोलन की लहरें आ रही थीं—मध्य वर्ग अधिक सुशिक्षित एवं प्रबुद्ध होने लगा था; उसके अध्ययन क्षेत्र का विस्तार हुआ था, अतः यह कोई आश्चर्य की बात न थी। गिरजाकुमार माथुर के 'मंजीर' संग्रह (सन् १९४०) की भूमिका में 'निराला' ने इस प्रभाव को लक्षित किया था—

"इस समय गांधीवाद, समाजवाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का हिन्दी-साहित्य में तूफान उठा हुआ है। काव्य में इनके धक्के तेजी से लग रहे हैं।" यह प्रयोगवाद 'माडर्निस्ट मूवमेण्ट' ही था। इस भूमिका से यह भी पता लगता है कि राजनैतिक मतवाद इस समय तक काव्य के क्षेत्र में भी (कथा साहित्य के क्षेत्र में तो बहुत पहले से) गहरी तरह से आ गये थे। परन्तु उस समय तक उनका स्वरूप काव्य में अत्यधिक स्थूल रहा, बाद को 'नयी कविता' के क्षेत्र में वे अधिक आन्तरिक भूमिका में प्रतिष्ठित हो अपेक्षाकृत सूक्ष्म चेतना का कार्य कर सके, पर यह तो स्वाभाविक विकास था।

वास्तव में सन् ३० के बाद की विश्वव्यापी मंदी, शिक्षितों की बेकारी, वैयक्तिक आन्दोलनों की असफलता, रूस की सफलता, आसन्न महायुद्ध की विभीषिकामयी आशंका तथा बढ़ते हुये दमन-चक्र ने वह अवस्था उत्पन्न कर दी थी जिसमें 'भाव-शबलता से प्रेरित स्वच्छन्द कल्पना' काम नहीं कर पाती थी। अब या तो आक्रोश और विद्रोह का अनगढ़ स्वर समीचीन था या फिर 'अंतर अहं की गुफा में लीन क्षयी रोमांस' के गीत ही गम गलत कर सकते थे। एक तीसरा स्वर इनके मध्य में था जो कभी अहलीन हो सकता था तो कभी क्रुद्ध वीर्य की फुफकार भी गुंजा सकता था तथा आवेश के धीमा पड़ने पर शान्तिपूर्वक सोच भी सकता था। वास्तव में मध्यवर्ग (कवि और पाठकों का जो मुख्य वर्ग है) की मुख्य पूंजी बौद्धिक शक्ति ही है। जिस समय इसे वह भुला देता है तब या तो अतिरिक्त कल्पना में बह जाता है या फिर तीव्र निराशा में डूबता है। समस्याओं के तीव्र झोकों ने उसकी बुद्धि को झनझना दिया और इस बौद्धिक शक्ति से शक्तिवान बनने की चेष्टा में वह लगा। इस बौद्धिकता ने ही पंत को मार्क्सवाद की ओर उन्मुख किया था और इसी ने नये कवि को स्फीत कल्पना के बालुकाधार से हटाकर बौद्धिक दृष्टि से समस्याओं के आमने-सामने खड़ा कर दिया। ये लोग घबड़ाए, अनिश्चय, आशंका और अनास्था भी जागी पर अंततः एक बौद्धिक दृढ़ता ने इन्हें खड़े रहने की आधार-भूमि दी। प्रयोगवादी-प्रगतिवादी कवियों की यह पीढ़ी परिस्थितियों की मार से बीच-बीच में लड़खड़ाती रही, पर उसने विवेक को यथासम्भव स्थिर बनाये रखा। सन् '५० के बाद दोनों के मध्य के मिथ्या भ्रम दूर होने प्रारम्भ हुए तथा कहीं अधिक दृढ़ विवेक-निष्ठा पर 'नयी कविता' की समन्वित स्थापना हो सकी। बहुधा नयी कविता के प्रसंग में बौद्धिकता का आरोप आलोचक लगाते हैं, परन्तु वास्तव में बौद्धिकता प्रयोगवादी काव्य की विभूति है। 'नयी कविता' पुनः संवेदनशीलता और

बिम्बाधायकता को स्वीकार करती है, परन्तु 'प्रयोगवादी काव्य' के लिये बौद्धिकता अनिवार्य हो गयी थी। इस बौद्धिकता ने काव्य की समुचित परम्परा को विकसित होने मे सहायता दी। जिन लोगों ने इस बौद्धिकता को नहीं स्वीकारा, वे एक प्रकार की छिछली कल्पनाशीलता एवं प्रेम की हल्की-फुल्की भावनाओं से भरी कविताएँ लिखकर कवि-सम्मेलनों में कीर्ति अर्जित करते रहे। इसी कारण हिन्दी का छायावादोत्तर गीत-काव्य अपने व्यापक दायित्व को छोड़कर जनप्रिय होते हुये भी मुख्य काव्य-परम्परा से पृथक हो गया; परन्तु बौद्धिकता की शक्ति से शक्तिमान बना काव्य 'प्रयोगवाद' समसामयिक जीवन के दबाव में विकसित होने वाली परम्परा की उपयुक्त कड़ी था जो अपना दाय 'नयी कविता' को सौंप कर ही हटता है।

नया काव्य : पृष्ठभूमि और प्रभाव

अंग्रेजी के एक आधुनिक समीक्षक श्री जे० आइजक्स का कहना है—"बहुधा लोग यह कहते हैं कि वे यह जानते हैं कि क्या पसन्द करते हैं, जबकि वे अधिकांशत: वही पसंद करते हैं जो जानते हैं।" यही स्थिति, बहुत कुछ हिंदी के समकालीन काव्य की है। पाठक तथा पुराने और प्रतिष्ठित समीक्षक जितना और जैसा अब तक पढ़ते आ रहे हैं, उतना ही और वैसा ही पसंद करते हैं। पाठक तो क्षम्य है; क्योंकि वह अपने शिक्षाकाल में जिन काव्यसंस्कारों के बोध को ग्रहण कर सका है, उनसे नया काव्य दूर हट आया है फिर उसे इतनी सुविधा और समय भी नहीं है कि इन सबको ठीक से पढ़ सके, वैसी रुचि जगा सके। परन्तु समीक्षक की जिम्मेदारी दूसरी है। उसके सम्मुख पुराने साहित्य की नयी व्याख्या प्रस्तुत करने से भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य नए साहित्य का सहानुभूतिमय मार्मिक विश्लेषण एवं उसका समुचित मूल्यांकन और निरूपण करना है। पर आज हिन्दी के अधिकांश समीक्षक बिना नये साहित्य को पढ़े, उसकी पृष्ठभूमि में स्थित नयी चेतना को पहचाने तथा नयी सामाजिक परिस्थितियों एवं मूल्यों का ज्ञान प्राप्त किये ही अथवा फिर पूर्वाग्रह से मन को रंग कर नये काव्य पर टूटने का उपक्रम बांधते हैं। यों तो समकालीन कविता में अतिमअनों एवं कविम-अवैयों से लेकर 'नयी कविता' (पत्रिका) की कविताओं तक सभी आती हैं; परन्तु हमारा तात्पर्य उस कविता से है जो सही अर्थों में समकालीन है अथवा अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हुई पुराने मार्गचिन्हों से आगे बढ़ी है; जिसके कारण अज्ञेय अनिराम नहीं, अज्ञेय हैं तथा नागार्जुन मैथिलीशरण गुप्त से भिन्न हैं। यदि समय की दृष्टि से कहा जाय तो इस समय हमारा तात्पर्य लगभग पिछले पन्द्रह वर्षों के काव्य से है। यह कविता आधुनिकता या नवेपन की द्योतक है। यह आधुनिकता अथवा नयापन, एक सापेक्ष शब्द है। यह केवल उस 'टोन' को सूचित करता है जो हमारी परिस्थितियों में हुई [illegible] करता है। परिस्थिति के बदलते ही यह 'आधुनिकता' भी बदल जाती है। इङ्गलैंड के 'मार्क्सिस्ट' आन्दोलन के प्रमुख नेता स्टीफेन स्पेंडर आज स्वयं कहते हैं—"आधुनिकतावादी आंदोलन मर गया है।"

यहां एक प्रश्न उठ सकता है कि हर युग की कविता अपने आप में
ो होती है, फिर इस विशेष काव्य को ही 'नयी कविता' क्यों कहा जाय ?
पत्ति एक सीमा तक सही है। फिर भी दो-एक बातें साफ हैं। हमारा
वास्तव में पिछले युग से इतना तीव्र रूप से पृथक् है कि इसका नयापन
क्षित होता हुआ नहीं बल्कि फांदता हुआ आया है। यह नयापन एकदम
ट रूप से एक ही पीढ़ी के आदमी को अनुभव होता है। यह भी कहा
सकता है कि यह युग इतना जटिल है कि इसकी किसी एक प्रमुख विशे-
की ओर इङ्गित करना कठिन कार्य है। यदि इसे वैज्ञानिक कविता कहें
मेरा विचार है कि प्रबुद्ध व्यक्ति अपने युग के ज्ञान-विज्ञान से कभी भी
[क्त नहीं रहता और इतना तो मानना ही पड़ेगा कि कवि को प्रबुद्ध
य गिना जाना चाहिए, बाकी कुछ और कहा जाय या नहीं। यांत्रिक
ा कहना और अधिक भ्रामक होगा। कुछ लोगों ने 'प्रयोगवाद' संज्ञा
े अभिहित किया है; पर यह शब्द भ्रामक ही नहीं बिलगाव उपस्थित
वाला भी है। प्रगतिवाद और प्रयोगवाद को अलग करना समीचीन
है। नये तत्व तथाकथित दोनों प्रकार की कविताओं में उपस्थित हैं;
वह विशिष्ट तत्व जो दोनों को नया बनाता है, अधिक उपयुक्त रहेगा।
बहुधा भ्रमों की सृष्टि करते हैं। सूरदास और तुलसीदास दोनों पृथक्
ृत्ति और भिन्न शिल्प के कलाकार थे, पर वे दोनों भक्तिकाव्य के थे।
ा और पन्त का कृतित्व भिन्न है पर मूल में कुछ ऐसा है जो उ
ादी बनाता है। यही स्थिति इन प्रयोगवादी–प्रगतिवादी काव्यों
ी है।

इस नये काव्य का विवेचन करते समय प्रश्न यह उठता है कि व
खक के मस्तिष्क की पृष्ठभूमि में क्या है, जो कभी-कभी उभर
आ जाता है ? सोचने की बात यह है कि ऐतिहासिक प्रक्रिया के वि
हम गुजर रहे हैं ? वे कौन-सी परिस्थितियां हैं जो एक ओर लेख
खक को अशान्त करती हैं और दूसरी ओर पाठक को अभिभूत कर
वे कौन से अंतर्विरोध हैं जो कवि के मस्तिष्क को ही विभक्त न
लिक पाठक और कवि को भी जुदा-जुदा कर देते हैं ? हमारे सा
विशेष लक्षण क्या है जिसे हम पहचान कर प्रवृत्या पसंद या नापस
? क्या यह दुरूहता, असंगत विधान और कृत्रिमता है; क्या
मात्र है; विशेष है, सार्वभौम नहीं ? क्या यह वैयक्तिक और व्यं
अथवा तटस्थ एवं भावना-रहित ? वास्तव में यह समस्या खास
अंतर्विरोध है इस परिस्थिति में। "विषमवस्तु की दृष्टि से यह यु

मतभेदों की कविता है और आकार की दृष्टि से *तनाव एवं द्वन्द्व की।"* इस काव्य का जन्म विविधताओं के योग से हुआ है। देशी परम्परा, विदेशी प्रभाव, प्रयोग तथा मिथ्या प्रारंभ, अतियाँ-न्यादतियां, ईमानदारी और जिज्ञासा सभी इसकी तह में विद्यमान हैं।

: २ :

वर्तमान वातावरण संघर्षों, तनाव, अंतर्विरोधिनी प्रवृत्तियों, प्रतिस्पर्धों, नानाविध प्रयोगों एवं नये और पुराने के विरोध का युग है। मेरा अनुमान है कि हमारे देश में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में एक बार ऐसी ही स्थिति आयी थी और उससे भी पूर्व महाभारत काल में ऐसी ही उद्वेलित परिस्थितियां उत्पन्न हो गयी थीं। एक ने भक्तिसाहित्य को सिरजा और दूसरी ने महाभारत जैसे महान् ग्रंथ को जन्म दिया। मुझे विश्वास है कि *वैसे ही श्रेष्ठ साहित्य की पूर्व पीठिका हमारे मध्य तैयार हो रही है।* आज चारों ओर *संघर्ष, सक्रांति, कलह की पुकार उठ रही है।* ऐसी परिस्थिति कलाकार के मस्तिष्क को भी आक्रांत कर लेती है। वह इसके प्रति सचेत रूप से दो प्रतिक्रियाएँ करता है; एक तो वह ऐसी ही स्थिति का हूबहू चित्र देता है या फिर उसके प्रतिकार के नाना प्रकार के सुचिंतित या अर्धचिंतित समाधान उपस्थित करता है। अपने भूत और भविष्य के प्रति दृढ़ता की भावना जगाना चाहता है। *हिंदी में दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करने वाले कवि विद्यमान हैं।* सर्वेश्वरदयाल, अनन्तकुमार पाषाण, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि की रचनाएँ पहली स्थिति की द्योतक हैं; पन्त, अज्ञेय, गिरिजाकुमार, भवानीप्रसाद मिश्र, भारती आदि की रचनाएँ दूसरी स्थिति का आभास देती हैं।

सभ्यता की वर्तमान स्थिति में व्यक्ति जैसे *मिथ्या है। उसके चारों ओर समूह इकट्ठा है* और समूह भी ऐसा कि जिसके भीतर वह केवल चल रहा है, मिल नहीं रहा। उसके कन्धे से कन्धे भिड़े रहते हैं, गलों से गले मिल जाते हैं, आँखों से आँखें पड़ जाती हैं या डाल दी जाती हैं, या वे दूसरे ही क्षण भीड़ के धक्कों में व्यर्थ हो जाती हैं। भीड़ का यह दबाव व्यक्ति को भ्रमित भी करता है *तथा कभी-कभी एक प्रकार के पलायनवाद को भी जन्म दे देता है।* वह अभिलषित चिंतन में जीने लगता है। आज हिन्दी में रचा जाने वाला अधिकांश गीतिकाव्य इसी पलायन एवं मनमोदकों का काव्य हो गया है। पर नया काव्य मनमोदक बनाने के बजाय इस पलायन को देख लेता है, *महसूस कर लेता है तथा वह अपनी इस कमजोरी को निर्मम होकर प्रकट भी कर देता है :—*

> प्राणों में था अमित प्रकाश, मिल न सका लेकिन अवकाश
> एक किरण भी बांट न पाये हाय !
> क्षितिज-पार का था आह्वान, अटके पर दफ्तर में प्राण,
> आयु कट गयी पीते-पीते चाय।
>
> —भारतभूषण अग्रवाल

और चूंकि आज का प्रबुद्ध नया कवि इस पलायन को महसूस कर लेता है, इसीलिये वह सचेष्ट भाव से कर्मक्षेत्र में पुनः आने का प्रयास करता है—

> यह भी मन करता है—
> यहीं कहीं झर जायें,
> यहीं किसी भूखे को देहदान कर जायें
> यहीं किसी नंगे को खाल खींच कर दे दें,
> प्यासे को रक्त आँख मीच-मीच कर दे दें—
>
> —दुष्यन्त कुमार

अस्तु, यह स्थिति मध्यवर्ग के लिये सबसे अधिक कष्टकर है। वह बौद्धिक रूप से प्रबुद्ध एवं चेतन है; सचेत भाव से सुख-दुख की धारणाएँ बना सकता है, ऊँची उमंगों में उड़ सकता है; पर इस दबाव में पड़ कर उसका व्यक्तित्व एवं महत्वाकांक्षाएँ नितान्त उपेक्षित रह जाती हैं। एक प्रकार की कटुता एवं अतृप्ति उसके हृदय को आक्रान्त कर लेती है। दूसरी ओर विचारधारा के क्षेत्र में समाज एवं सामाजिकता पर अत्यधिक बल इस युग में दिया गया है। कहीं-कहीं तो अतिवाद की श्रेणी में पहुँच कर छोटी इकाई बड़ी इकाई के लिए महत्वहीन घोषित कर दी गयी है। आवश्यक है कि कवि इस समाजप्रधान विचारधारा से भी प्रभावित हो। परिणाम यह है कि वह जनवादी बनना चाहता है, पर अपेक्षित जनवाद को अपने भीतर अनुभव नहीं कर पाता। यह अंतर्विरोध उसके व्यक्तित्व को द्विधा-विभक्त कर सृजन में एक बाधा बन कर उपस्थित होता है। उसमें विचारों एवं अभिव्यक्ति में एकतानता तथा एकरूपता (कांसिस्टेंसी) का अभाव हो जाता है। शमशेर, अज्ञेय, अंचल, सुमन आदि कवि बहुत कुछ इसी द्वैत के शिकार हैं; पर मैं एक बात फिर जोर देकर कहना चाहता हूँ कि कवि अपनी प्रबुद्धता के बल पर इस द्वैत पर विजय पाना चाहता है। अज्ञेय का क्रमिक रूप देखने पर यह बात अधिक स्पष्ट होती है। "इत्यलम्", में उन्होंने कहा था—

तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
घिरा हुआ है जग से, पर है सदा अलग निर्मोही !
जीवन सागर हहर-हहर कर
उसे लीलने आता दुर्धर
पर वह बढ़ता ही जायेगा लहरों पर आरोही ।

पर वही अज्ञेय 'बावरा अहेरी' में स्पष्ट रूप से कहते हैं—

आने दो
हहराती इस लहर को काट कर गिराने दो
कूल ।
उसी के वक्ष पर फिर पछाड़ खाने दो,
सुध बिसराने दो,
गल कर मरुथल हो जाने दो—
आने दो ।

यह तो प्रौढ़ कवि की बात हुई । अपेक्षाकृत एक बिल्कुल नवीन कवि ने भी इस वैयक्तिक से सार्वजनिक में संक्रमण का अनुभव किया है—

वह ठहरी-ठहरी वय !
निर्मम जड़ता की जय !
बहरी स्थिरता का भय !
लहरों, बाँधों, चहारदीवारों,
अवरोधों, कुण्ठा-सीमा-भारों
का दुर्धर घेरा था ।
वह था : जो मेरा था ।
इसीलिए, घेरा तोड़ा मैंने
जो 'मेरा' था : वह छोड़ा मैंने ।

अनेक शाखायें उत्पन्न हुई है और उनका विविध दिशाओं में विकास हो रहा है। इन ज्ञान-विज्ञानों का रूप वैयक्तिक भी है, सामाजिक भी तथा वह इन दोनों को प्रभावित करता हुआ तत्वतः पृथक् भी है। इनमे आपस मे विरोध भी है, सगतियाँ भी तथा समन्वय, सामजस्य एव अन्योन्याश्रयता भी। कवि और पाठक को प्रभावित कर ऐसे तत्व उसके सृजन मे नाना प्रकार के विरोधों एवं समन्वयों को जन्म देते है। इन ज्ञान-विज्ञानो ने मनुष्य के मस्तिष्क और परिवेश को समझने की नयी दृष्टि दी है। उसके अनुभव के लिए नये विस्तृत क्षेत्र का द्वार उन्मुक्त किया है। उसके बिंवविधान एवं चिंतन के लिए नये उपकरण प्रदान किये है।

> आज मैं पहचानता हूँ, राशियाँ, नक्षत्र—
> ग्रहों की गति, कुग्रहों के कुछ उपद्रव भी
> मेखला आकाश की,
> जानता हूँ मापना दिनमान,
> समझता हूँ अयन-विषुवत्,
> सूर्य के धब्बे, कलाएँ चन्द्रमा की
> गति अखिल इस सौर-मडल के विवर्तन की—
>
> और इन सबसे परे मैं सोचता हूँ
> जरा कुछ-कुछ आँकने सा भी लगा हूँ
> इस गहन ब्रह्माड के अंतःस्थ विधि का मर्म—
>
> —अज्ञेय

जिस समय आज का विद्यार्थी भूगर्भ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान अथवा शरीर-शास्त्र का अध्ययन करता है उस समय उसके सारे अनुभवों को, परम्परा से प्राप्त ज्ञान को, एक भयकर ठेस लगती है। उसकी सारी मान्यताएँ चूर-चूर होने लगती है। सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी उसके विश्वास, मनुष्य की भाषा-सम्बन्धी भावनाएँ हिल जाती है; तथा जीवन और जगत् के उद्भव एवं विकास के बारे मे नितान्त नयी बातें आकर उसे 'अभिभूत करती है। उसे यह याद दिलाया जाता है कि वह मूलतः पशु है; परन्तु उसे पशु घोषित करने वाले विज्ञान ने ही मनुष्य के हाथ मे इतनी शक्ति दे दी है कि वह अपने को उस सृष्टि से जिससे कि वह स्वय उत्पन्न हुआ है, बड़ा समझ सकता है। यह स्थिति उसके भीतर अदम्य अहं की भावना को जागृत करती है—

ठहर, ठहर, आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।

—अज्ञेय

पर इस अहं की दयनीय दुर्दशा भी होती है। वह अपने को 'पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता' तथा 'अहंलीन शिशु भिक्षुक' भी महसूस करने लगता है। विज्ञान ने यह जो भयंकर शक्ति—यंत्रशक्ति—मनुष्य को दी है उसके बल पर पर वह बलीयान् भी है और उसी के कारण नितान्त महत्वहीन भी। वह सोचता है—

मात्र यंत्रयुग की उपज एक मैं भी हूँ
योग नहीं कोई, उपयोग भले मेरा हो।

—भारतभूषण

अथवा

यंत्र हमें दलते हैं
और हम अपने को छलते हैं
थोड़ा और खट लो, थोड़ा और पिस लो—
यंत्रों का उद्देश्य तो बस शीघ्र अवकाश
और अवकाश एक मात्र अवकाश है।

—अज्ञेय

इस यांत्रिक समाज में उसके समूचे व्यक्तित्व का विघटन हो गया है। उसके अहं का सबसे अधिक तिरस्कार करने वाला यंत्र है। अतः यह दुर्दम अहं और व्यक्तित्व का विघटन भी आज के काव्य में अभिव्यक्त हुआ है; यह कवि में अनास्था के बीज बोता है—

कमजोर और अक्षम अब
हो गयी है आत्मा यह,
छटपटाती छाती को भवितव्यता डराती है!
बहलाती, सहलाती, आत्मीयता अकुलाती
बरदाश्त नहीं होती है।

—मुक्तिबोध

अथवा

किन्तु मैं—मैं मेरी भुजाएँ टूट गयी हैं
क्योंकि मैंने उनकी परिधि में मेघों को बाँध लेना चाहा था।

—अज्ञेय

(४)

नवीन शास्त्रों के आलोक में इस युग के व्यक्ति ने देखा कि उसके व्यक्तित्व के अनेक पक्ष ऐसे हैं जो अभी तक न तो उपयोग में लाये जा सके हैं तथा न जिनकी भली प्रकार से व्याख्या की जा सकी है। जब हम मनुष्य और उसके प्रयत्नों के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो उन संवेदनाओं, अनुभूतियों, सपर्कों तथा नये-नये प्रकार के शक्ति-सम्पन्नों (आध्यात्मिक और लौकिक) को याद करते हैं जो केवल इसीलिए अनदेखे गुजर गये हैं कि समुचित शब्दावली के भीतर उन्हें बांधा नहीं जा सका था अथवा उनके चरम-लक्ष्य और साध्य को तत्कालीन लोगों ने समझा नहीं था। इन बातों का सम्यक् बोध और मूल्यांकन बीसवीं शती की संस्कृति का केन्द्रबिंदु है। इस सारे बोध को आज का कवि वाणी देने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि अभी ऐसी कोई शैली, काव्यरूप अथवा सम्विधान विकसित नहीं हो पाया है जो मनोविज्ञान, रसायन-शास्त्र, भूतत्व-शास्त्र लोक-साहित्य के सम्पर्क से आये हुए वैयक्तिक सत्यों को अपने में भली प्रकार से ढाल सके, यद्यपि काव्य-नाटकों आदि के रूप में इस प्रकार के कुछ यत्न हुए हैं।

हमारे देश में शून्यता और भ्रांति आने का एक कारण और था, शताब्दी में नये मूल्यों की स्थापना होने के पहले ही पुराने मूल्य टूटने। यूरोप में ऐसा नहीं हुआ था। वहाँ विज्ञान-बुद्धि तथा तज्जन्य परिवर्तन प्रकार के घात प्रतिघातों, क्रिया-प्रतिक्रियाओं के मध्य से स्वाभाविक से आये थे; अतः अपेक्षित मनःस्थिति एवं सामाजिक परिवेश में उनके स्थान बनता गया था। हमारे देश में ऐसा न हो सका था। नये और के बीच एक गहरी और चौड़ी खाई इसीलिए स्थापित हो गयी। [illegible] में परम्परा सिखाती है कि भौतिक पदार्थों की अपेक्षा [illegible] में अधिक रुचि रखनी चाहिए, पर कठोर यथार्थ इस विचार को [illegible] है। प्राचीन क्लासिकल साहित्य और बुद्धि एवं मध्यकालीन [illegible] भावना के अनुसार मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है, पर यह युग अधिक बल के साथ यह महसूस कर रहा है कि मनुष्य सामाजिक जीव है। पहले आत्मपूर्णता के लिए प्रयत्न करते थे वे अब परोपकार को अपना ध्येय मानने लगे। मनुष्य की दृष्टि परलोक से उतर कर इहलोक पर [illegible]। ज्ञान की नयी उपलब्धियों ने पुराने विचारों एवं मान्यताओं को नये [illegible] देखा और परखा। [illegible] इस तरह होते हुए अपने को [illegible]

मतभेदों की कविता है और आकार की दृष्टि से तनाव एवं द्वन्द्व की।" इस काव्य का जन्म विविधताओं के योग से हुआ है। देशी परम्परा, विदेशी प्रभाव, प्रयोग तथा मिथ्या प्रारंभ, अनियमित-उन्मादनियां, ईमानदारी और जिज्ञासा सभी इसकी तह में विद्यमान हैं।

: २ :

वर्तमान वातावरण संघर्षों, तनाव, अंतर्विरोधिनी प्रवृत्तियों, प्रतिस्पर्धों, नानाविध प्रयोगों एवं नये और पुराने के विरोध का युग है। मेरा अनुमान है कि हमारे देश में तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में एक बार ऐसी ही स्थिति आयी थी और उससे भी पूर्व महाभारत काल में ऐसी ही उद्वेलित परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी थीं। एक ने भक्तिसाहित्य को सिरजा और दूसरी ने महाभारत जैसे महान् ग्रंथ को जन्म दिया। मुझे विश्वास है कि वैसे ही श्रेष्ठ साहित्य की पूर्व पीठिका हमारे मध्य तैयार हो रही है। आज चारों ओर संघर्ष, संक्रांति, कलह की पुकार उठ रही है। ऐसी परिस्थिति कलाकार के मस्तिष्क को भी आक्रांत कर लेती है। वह इसके प्रति सचेत रूप से दो प्रतिक्रियाएँ करता है; एक तो वह ऐसी ही स्थिति का हूबहू चित्र देता है या फिर उसके प्रतिकार के नाना प्रकार के सुचिंतित या अर्धचिंतित समाधान उपस्थित करता है। अपने भूत और भविष्य के प्रति दृढ़ता की भावना जगाना चाहता है। हिंदी में दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाएँ करने वाले कवि विद्यमान हैं। सर्वेश्वरदयाल, अनन्तकुमार पाषाण, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदि की रचनाएँ पहली स्थिति की द्योतक हैं; पन्त, अज्ञेय, गिरिजाकुमार, भवानीप्रसाद मिश्र, भारती आदि की रचनाएँ दूसरी स्थिति का आभास देती हैं।

सभ्यता की वर्तमान स्थिति में व्यक्ति जैसे मिथ्या है। उसके चारों ओर समूह इकट्ठा है और समूह भी ऐसा कि जिसके भीतर वह केवल चल रहा है, मिल नहीं रहा। उसके कन्धे से कन्धे भिड़े रहते हैं, गलों से गले मिल जाते हैं, आँखों मे आँखें पड़ जाती हैं या डाल दी जाती हैं, या वे दूसरे ही क्षण भीड़ के धक्कों में व्यर्थ हो जाती हैं। भीड़ का यह दबाव व्यक्ति को भ्रमित भी करता है तथा कभी-कभी एक प्रकार के पलायनवाद को भी जन्म दे देता है। वह अभिलषित चिंतन मे जीने लगता है। आज हिन्दी मे रचा जाने वाला अधिकांश गीतिकाव्य इसी पलायन एवं मनमोदकों का काव्य हो गया है। पर नया काव्य मनमोदक बनाने के बजाय इस पलायन को [illegible] है, महसूस कर लेना है तथा वह अपनी इस कमजोरी को निर्मम होकर [illegible] कर देता है :—

प्राणों में था अमित प्रकाश, मिल न सका लेकिन अवकाश
एक किरण भी बाट न पाये हाय !
क्षितिज-पार का था आह्वान, भटके पर दफ्तर में प्राण,
आयु कट गयी पीते-पीते चाय ।

—भारतभूषण अग्रवाल

और चूंकि आज का प्रबुद्ध नया कवि इस पलायन को महसूस कर लेता है, इसीलिये वह सचेष्ट भाव से कर्मक्षेत्र मे पुनः आने का प्रयास करता है—

यह भी मन करता है—
यहीं कहीं भर जायें,
यहीं किसी भूखे को देहदान कर आयें
यहीं किसी नंगे को खाल खींच कर दे दें,
प्यासे को रक्त और मीच-मीच कर दे दें—

—दुष्यन्त कुमार

अस्तु, यह स्थिति मध्यवर्ग के लिये सबसे अधिक कष्टकर है। वह बौद्धिक रूप से प्रबुद्ध एवं चेतन है, सचेत भाव से सुख-दुख की धारणाएँ बना सकता है, ऊँची उमंगो में उड़ सकता है; पर इस दबाव मे पड़ कर उसका व्यक्तित्व एवं महत्वाकांक्षाएँ नितान्त उपेक्षित रह जाती हैं। एक प्रकार की कटुता एवं अतृप्ति उसके हृदय को आक्रान्त कर लेती है। दूसरी ओर विचारधारा के क्षेत्र मे समाज एवं सामाजिकता पर अत्यधिक बल इस युग मे दिया गया है। कहीं-कहीं तो अतिवाद की श्रेणी में पहुँच कर छोटी इकाई बड़ी इकाई के लिए महत्वहीन घोषित कर दी गयी है। आवश्यक है कि कवि इस समाजप्रधान विचारधारा से भी प्रभावित हो। परिणाम यह है कि वह जनवादी बनना चाहता है, पर अपेक्षित जनवाद को अपने भीतर अनुभव नहीं कर पाता। यह अंतर्विरोध उसके व्यक्तित्व को द्विधा-विभक्त कर सृजन मे एक बाधा बन कर उपस्थित होता है। उसमे विचारों एवं अभिव्यक्ति में एकतानता तथा एकरूपता (कांसिस्टेंसी) का अभाव हो जाता है। शमशेर, अज्ञेय, अंचल, सुमन आदि कवि बहुत कुछ इसी द्वंद्व के शिकार हैं; पर मैं एक बात फिर जोर देकर कहना चाहता हूँ कि कवि अपनी प्रबुद्धता के बल पर इस द्वंद्व पर विजय पाना चाहता है। अज्ञेय का कवित्व रूप देखने पर यह बात अधिक स्पष्ट होती है। "इत्यलम्", मे उन्होंने कहा था—

तुम्हारा यह उद्धत विद्रोही
घिरा हुआ है जग से, पर है सदा अलग निर्मोही !
जीवन सागर हहर-हहर कर
उसे लीलने आता दुर्धर
पर वह बढ़ता ही जायेगा लहरों पर आरोही ।

पर यही अज्ञेय 'बावरा अहेरी' में स्पष्ट रूप से कहते हैं—

आने दो
हहराती इस लहर को काट कर गिराने दो
कूल ।
उसी के वक्ष पर फिर पछाड़ खाने दो,
सुध बिसराने दो,
गल कर वत्सल हो जाने दो—
आने दो ।

यह तो प्रौढ़ कवि की बात हुई । अपेक्षाकृत एक बिल्कुल नवीन कवि ने भी इस वैयक्तिक से सार्वजनिक में संक्रमण का अनुभव किया है—

यह ठहरी-ठहरी वय !
निर्मम जड़ता की जय !
बहरी स्थिरता का भय !
लहरों, कोटों, चहारदीवारों,
अवरोधों, कुण्ठा-सीमा-भारों
का दुर्धर घेरा था ।
वह था : जो मेरा था ।
इसीलिए, घेरा तोड़ा मैंने
जो मेरा था : वह छोड़ा मैंने ।

—प्रवीन कुमार

(१)

काव्य के मानवीय विषय की पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक विचार का विद्यमान रहता है । निरीक्षण, स्पष्ट कल्पित पद्धति, जिज्ञासा तथा संदेह का एवं सत्य को वस्तुपूर्ण समझने का भाव इस वैज्ञानिक विचार की विशेषताएँ हैं । इन विशिष्टताओं ने हमारे सारे विवेक को प्रभावित किया है मान्यताओं एवं सिद्धान्तों को डगमगा दिया है । इसी [illegible] प्रकाश में ही हमारे [illegible] व [illegible] का क्षेत्र [illegible] गया है । [illegible]

अनेक शाखायें उत्पन्न हुई हैं और उनका विविध दिशाओं में विकास हो रहा है। इन ज्ञान-विज्ञानों का रूप वैयक्तिक भी है, सामाजिक भी तथा वह इन दोनों को प्रभावित करता हुआ तत्वतः पृथक् भी है। इनमें आपस में विरोध भी हैं, संगतियाँ भी तथा समन्वय, सामंजस्य एवं अन्योन्याश्रयता भी। कवि और पाठक को प्रभावित कर ऐसे तत्व उसके सृजन में नाना प्रकार के विरोधों एवं समन्वयों को जन्म देते हैं। इन ज्ञान-विज्ञानों ने मनुष्य के मस्तिष्क और परिवेश को समझने की नयी दृष्टि दी है। उसके अनुभव के लिए नये विस्तृत क्षेत्र का द्वार उन्मुक्त किया है। उसके बिंबविधान एवं चिंतन के लिए नये उपकरण प्रदान किये हैं।

> आज मैं पहचानता हूँ, राशियाँ, नक्षत्र—
> ग्रहों की गति, कुग्रहों के कुछ उपद्रव भी
> मेखला आकाश की;
> जानता हूँ मापना दिनमान,
> समझता हूँ अयन-विषुवत्,
> सूर्य के अब्दे, कलाएँ चन्द्रमा की
> गति अखिल इस सौर-मंडल के विवर्तन की—
>
> और इन सबसे परे मैं सोचता हूँ
> जरा कुछ-कुछ भाँपने सा भी लगा हूँ
> इस गहन ब्रह्मांड के अंतःस्थ विधि का अर्थ—
>
> —अज्ञेय

जिस समय आज का विद्यार्थी भूगर्भ-शास्त्र, समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान अथवा शरीर-शास्त्र का अध्ययन करता है उस समय उसके सारे अनुभवों को, परम्परा से प्राप्त ज्ञान को, एक भयंकर ठेस लगती है। उसकी सारी मान्यताएँ चूर-चूर होने लगती हैं। सृष्टि-प्रक्रिया सम्बन्धी उसके विश्वास, मनुष्य की आत्मा-सम्बन्धी भावनाएँ हिल जाती हैं, तथा जीवन और जगत् के उद्भव एवं विकास के बारे में नितान्त नयी बातें आकर उसे अभिभूत करती हैं। उसे यह याद दिलाया जाता है कि वह मूलतः पशु है; परन्तु उसे पशु घोषित करने वाले विज्ञान ने ही मनुष्य के हाथ में इतनी शक्ति दे दी है कि वह अपने को उस सृष्टि से जिससे कि वह स्वयं उत्पन्न हुआ है, बड़ा समझ सकता है। यह स्थिति उसके भीतर अदम्य अहं की भावना को जागृत करती है—

ठहर, ठहर, आततायी ! जरा सुन ले
मेरे क्रुद्ध वीर्य की पुकार आज सुन जा।

—अज्ञेय

पर इस अहं की दयनीय दुर्दशा भी होती है। वह अपने को 'पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता' तथा 'अहंलीन शिशु भिक्षुक' भी महसूस करने लगता है। विज्ञान ने यह जो भयंकर शक्ति—यंत्रशक्ति—मनुष्य को दी है उसके बल पर वह बलीयान् भी है और उसी के कारण नितान्त महत्वहीन भी। वह सोचता है—

मात्र यंत्रयुग की उपज एक मैं भी हूँ
योग नहीं कोई, उपयोग भले मेरा हो।

—भारतभूषण

अथवा

यंत्र हमें दलते हैं
और हम अपने को छलते हैं
थोड़ा और खट लो, थोड़ा और पिस लो—
यंत्रों का उद्देश्य तो बस शीघ्र अवकाश
और अवकाश एक मात्र अवकाश है।

—अज्ञेय

इस यांत्रिक समाज में उसके समूचे व्यक्तित्व का विघटन हो गया है। उसके अहं का सबसे अधिक तिरस्कार करने वाला यंत्र है। अतः यह दुर्दम अहं और व्यक्तित्व का विघटन भी आज के काव्य में अभिव्यक्त हुआ है; यह कवि में अनास्था के बीज बोता है—

कमज़ोर और अक्षम अब
हो गयी है आत्मा यह,
छटपटाती छाती को भवितव्यता डराती है!
बहलाती, सहलाती, आत्मीयता भकुआती
बरदाश्त नहीं होती है।

—मुक्तिबोध

अथवा

रिपु हैं—मेरी भुजाएँ टूट गयी हैं
क्योंकि मैंने उनकी परिधि में मेघों को बाँध लेना चाहा था।

—अज्ञेय

(४)

नवीन शास्त्रो के आलोक मे इस युग के व्यक्ति ने देखा कि उसके व्यक्तित्व के अनेक पक्ष ऐसे हैं जो अभी तक न तो उपयोग मे लाये जा सके हैं तथा न जिनकी भली प्रकार से व्याख्या की जा सकी है। जब हम मनुष्य और उसके प्रयत्नो के इतिहास का अध्ययन करते हैं तो उन सवेदनाओ, अनुभूतियों, सपर्कों तथा नये-नये प्रकार के शक्ति-सम्मिलनो (आध्यात्मिक और नैतिक) को याद करते हैं जो केवल इसीलिए अनदेखे गुजर गये हैं कि समुचित शब्दावली के भीतर उन्हें बाँधा नहीं जा सका था अथवा उनके चरम-लक्ष्य और साध्य को तत्कालीन लोगो ने समझा नही था। इन बातो का सम्यक् बोध और मूल्यांकन बीसवीं शती की सस्कृति का केन्द्रबिंदु है। इस सारे बोध को आज का कवि वाणी देने का प्रयत्न करता है। परन्तु यह कहने मे हमें कोई सकोच नही है कि अभी ऐसी कोई शैली, काव्यरूप अथवा तन्त्र-विधान विकसित नही हो पाया है जो मनोविज्ञान, रसायन-शास्त्र, नृतत्व-शास्त्र या लोक-साहित्य के सम्पर्क से आये हुए वैयक्तिक संस्पर्शो को अपने मे भली प्रकार से ढाल सके, यद्यपि काव्य-नाटको आदि के रूप मे इस प्रकार के कुछ प्रयत्न हुए हैं।

हमारे देश मे शून्यता और भ्रांति आने का एक कारण और था; इस शताब्दी मे नये मूल्यों की स्थापना होने के पहले ही पुराने मूल्य टूटने लगे। यूरोप मे ऐसा नही हुआ था। वहाँ विज्ञान-बुद्धि तथा तज्जन्य परिवर्तन नाना प्रकार के घात प्रतिघातो, क्रिया-प्रतिक्रियाओ के मध्य से स्वाभाविक रूप से आये थे; अतः अपेक्षित मन स्थिति एव सामाजिक परिवेश मे उनके लिए स्थान बनता गया था। हमारे देश मे ऐसा न हो सका था। नये और पुराने के बीच एक गहरी और चौड़ी खाई इसीलिए स्थापित हो गयी। बीसवी शती मे परम्परा सिखाती है कि भौतिक पदार्थों की अपेक्षा आध्यात्मिक जगत मे अधिक रुचि रखनी चाहिए, पर कठोर यथार्थ इस विचार को पलट देता है। प्राचीन क्लासिकल साहित्य और बुद्धि एव मध्यकालीन पावनता की भावना के अनुसार मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है, पर यह युग अधि-काधिक बल के साथ यह महसूस कर रहा है कि मनुष्य सामाजिक जीव है। जो पहले आत्मपूर्णत्व के लिए प्रयत्न करते थे वे अब परोपकार की भावना को वरेण्य मानने लगे। मनुष्य की दृष्टि परलोक से उतर कर इहलोक पर आ टिकी। ज्ञान की नयी दशाओ ने पुराने विचारो एवं मान्यताओं को नये रूप से देखा और परखा। नये-पुराने के इस गहरे होते हुए सघर्ष को पाटने

के लिए प्राचीन की नयी वैज्ञानिक व्याख्याएँ देने और उसे नये रूप में उपस्थित करने की अनिवार्य आवश्यकता सामने आयी। एक ताजे दृष्टिकोण और एक नयी शैली की आवश्यकता पड़ी। पुरानी पुराण गाथाओं एवं सदर्भों को नये रूपों में तथा नवीन रूपकों में उपस्थित किया जाने लगा। इस आवश्यकता के कारण ही प्रसाद जी ने मनु की कथा में नया अर्थ जोड़ा। ऐसा हाल का ही उदाहरण धर्मवीर भारती का है जो महाभारत के कुछ पात्रों को नये अनास्थामूलक संदर्भ में उपस्थित करते हैं; क्योंकि बिना इस नयेपन और सामयिकता के ग्रहण के काव्य कभी शक्तिशाली नहीं बन पाता। ए० सी० ब्रैडले ने इस सम्बन्ध मे अत्यधिक महत्वपूर्ण बात कही है। उनके अनुसार "यदि किसी कृति को महान जैसी कोई चीज होना है तो वह एक अर्थ में वर्तमान से सबद्ध अवश्य होनी चाहिए। इसका विषय कुछ भी हो सकता है पर इसे वह कुछ जीवित अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिए जो उस दिमाग मे है जिससे यह आती है तथा जिन मस्तिष्कों में जाती है।" मैथ्यू आर्नल्ड ने भी कहा है—"साहित्य की श्रेष्ठ कृति होने के लिए दो शक्तियों को एक साथ घटित होना चाहिए; मनुष्य (कवि) की शक्ति एवं (वर्तमान) क्षण की शक्ति।"

स्पष्ट है कि वर्तमान समय में साहित्य के सभी प्रधान उपकरण—विचार, अनुभव, चित्तवृत्तियाँ तथा दृष्टिकोण बदल गये हैं। बीसवीं शती के मनुष्य की खोज ने इतने स्रोत, इतनी शक्ति और साधन उसके पास दे दिये कि अधिकांश उसके उत्तरदायित्वों एवं निहितार्थों को समझ नहीं सके। लोग उससे या तो बुरी तरह प्रभावित होकर इस शक्ति और यांत्रिकता को ही चरम साध्य मान बैठते हैं अथवा घबरा कर इससे एकदम भाग खड़े होते हैं, या फिर कुछ समानान्तर पंक्तियाँ वेदों और गीता, भागवत आदि मे खोजने में जुट जाते हैं। पाठक और उसका कवि भी बहुधा यह स्पष्ट नहीं समझ पाता कि संस्कृति का कौनसा पहलू बिगड़ रहा है अथवा स्थापित हो रहा है। इसके कारण सृजन की प्रक्रिया में भ्रम तथा सृजन में दुरूहता उत्पन्न हो जाती है।

(४)

'इतना सदैव स्पष्ट रहना चाहिए कि यह नया युग किसी मैनीफेस्टो, आन्दोलन या विशिष्ट वाद को लेकर प्रारम्भ नहीं हुआ बल्कि नयी परिस्थितियों के मध्य जन-साधारण की रुचि एवं दृष्टि में परिवर्तन होने से शुरू हुआ है। साहित्यकार भी जनता का अंग है। उसने केवल नेतृत्व किया है

और यह उससे आशा भी की जाती है। अधिक मर्मभेदिनी दृष्टि तथा अभि-व्यक्ति-प्रतिभा से सम्पन्न होने के कारण कलाकार अपनी परिस्थितियों के स्वरूप और समाधान को अपेक्षाकृत शीघ्र अनुभव एवं अभिव्यक्त कर सकता है। पाठकवर्ग, कभी-कभी देर से सहयुग होने के कारण, इस नयेपन का प्रारम्भ में तिरस्कार करता है, परन्तु अतत: वह नये काव्य को आदर देता है। एक पाश्चात्य समीक्षक का कहना है—"कला का पुनर्नवीकरण अवश्य होना चाहिए। इसका सृजनात्मक प्रभाव 'आश्चर्य' पर निर्भर होता है। जब एक बार प्रस्तुतीकरण की ताजगी अस्त हो जाती है तो फिर पाठक दैनिक स्वभाव की स्थिति प्राप्त कर लेता है। वह अन्तर्दृष्टि के लिए उत्सुक होता है पर होता उसे प्रतिभास मात्र है।" हमारा पूर्वकालीन काव्य विषय-वस्तु एवं रूप-विधान की दृष्टि से बड़ा सुघड़ काव्य है, परन्तु उसकी शैली, मुहावरे, कल्पना, तुक तथा छंद आदि अपनी पुरानी चमक नये अभिप्रायों के सम्मुख खो देते हैं; क्योंकि भाषा, मुहावरे, काव्यरूप आदि भी सामाजिक सम्बन्धों और प्रक्रियाओं से अप्रत्यक्ष भाव से सम्बन्धित रहते हैं। इसी कारण नयी संवेदनाएँ अपनी अभिव्यक्ति के लिए नया रास्ता ढूँढ़ लेती हैं। शब्दातीत अर्थों को वह प्राप्त करने के लिए शब्दों को व्यर्थ करार देता रहता है। यों तो—

प्रश्न अभिव्यक्ति का है मित्र!
ऐसा करो कुछ
जो मेरे मन में कुलबुलाता है।

नया कवि शब्दों को बीजों की भाँति फैलाकर भाषा की नयी फसल उगाना चाहता है जो समाज के नये यथार्थ को प्रकाशित कर सके।

आधुनिक काल में सभ्यता के नये मोड़ ने पुराने किस्म के पाठक की रुचि को ही नहीं मोड़ा है बल्कि उसने एकदम नया बहुत बड़ा पाठक-समाज भी उत्पन्न किया है। ये लोग किसी भी साहित्यकार का भाग्य बना या बिगाड़ सकते हैं। इस पाठक-समुदाय की कुछ अपनी विशिष्टताएँ हैं। इस समुदाय का विकास शिक्षा प्रसार के फलस्वरूप हुआ है। साक्षर होने के बाद इसने महसूस किया कि बौद्धिक परिष्कार का क्षेत्र इसकी पहुँच के निकट है। परन्तु ये लोग अध्येता के परिश्रम एवं अवकाश साध्य साहित्यिक रुचि के निकट नहीं पहुँच सकते। इन्हें तो झटपट कुछ मिलना चाहिए। 'शार्ट-कट्स' के घनघोर प्रयत्न इसी उद्देश्य से किये गये। ज्ञान की विविध छोटी-बड़ी खुराकें इस वर्ग को 'रेडीमेड' ढंग पर पत्रिकाओं, पैम्फलेटों तथा रेडियो आदि के द्वारा दी जाने लगीं। पर इसका यह अर्थ नहीं कि सारा पाठक-

समुदाय ऐसा ही है। इसमें कुछ प्रतिशत ऐसे भी लोगों का है जो परिश्रम-पूर्वक रसबोध अर्जित करते हैं। इन दो प्रकार के लक्ष्यीभूत पाठकों के अनुसार कवियों की भी दो कोटियाँ स्थूल रूप से हो गयीं अथवा एक ही साहित्यकार के दो रूप हो गये। एक वे जो पुष्ट, सुविचारित एवं ऊँचे स्तर के साहित्य को जन्म देते हैं। ये अपेक्षाकृत कम जनप्रिय तथा क्लिष्ट गिने जा सकते हैं। दूसरे वे जो 'शार्ट-कट' वाली जनता का नेतृत्व करने के लोभ का संवरण नहीं कर पाते। ऊपर जो कहा गया है कि यह पाठक-समुदाय किसी लेखक या कवि का भाग्य बना या बिगाड़ सकता है वह इसी अर्थ में कहा गया है। आज के साहित्यकार को इस प्रलोभन से कि उसकी रचनाओं के शीघ्र संस्करण हो, वह जनप्रिय हो, बच पाना कठिन होता है। श्रेष्ठ साहित्य का जनप्रियता वाला मापदण्ड कितना त्रुटिपूर्ण होता है इसे कहने की सम्भवतः आवश्यकता नहीं। आज के साहित्य में प्राप्त होने वाले चमत्कार एवं रूपवाद के पीछे बहुत कुछ यह पाठक-समुदाय भी है। प्राचीनकाल में काव्य के श्रव्य गुण-'पदभंकारमात्रेण' मन हरण करने वाली प्रवृत्ति–ने चमत्कारवादी साहित्य को जन्म दिया था और अब इस युग में नये पाठक ने नये प्रकार के रूपवाद को जन्म दिया है जो स्पष्ट रूप से कवि सम्मेलनी कविताओं एवं तथाकथित प्रयोगवादी कविताओं के अप्रस्तुत विधान में देखा जा सकता है। कभी-कभी अतिशय प्रबुद्ध और तर्कशील पाठक से भी कतराने के लिए अचम्भे के बच्चेवाला, चौंकाने वाला साहित्य निर्मित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त इस युग ने सैकड़ों आलोचकों को जन्म दिया है; जो पाठकों को यह बोध कराने पर तुले हैं कि कैसे किसी प्रतिमा को पहचाना जाय और विकसित होने के पूर्व ही उसकी प्रशंसा की जाय। इस वर्ग ने साहित्यकार को एक विचित्र ढंग से प्रभावित किया है। वह अपनी अनुभूतियों के प्रति कम ईमानदार और अपने समीक्षक के दृष्टिकोण के प्रति अधिक सचेष्ट हो गया है। समीक्षक ही नहीं, राजनीति से प्रभावित होकर साहित्य में भी एक दलगत स्थिति आ गयी है जिसके कारण अपने दल (व्यक्ति और विचारधारा दोनों आधारों पर) के नेताओं एवं रुचियों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। एच० जी० क्य के अनुसार अपने विचारों के प्रति सतर्क रहना तथा दूसरे के विचारों के बारे में सोचना पत्रकार के लिए भले ही उचित हो, पर कवि के सहृदबोध की दृष्टि से नितांत अनुचित है। यह स्थिति लेखक, पाठक तथा उस समाज को जिसमें साहित्य का निर्माण होता है, एक स्तर पर नहीं रहने देती। प्राचीन समय में इन तीनों का स्तर लगभग समान

हुआ करता था। इस नये अन्तर्विरोध ने भी काव्य में दुरूहता की सृष्टि की है।

(६)

इस सारी परिस्थिति के मध्य हमारे विचार-जगत् में अभूतपूर्व क्रांति हुई है। एक सामाजिक एवं जनतान्त्रिक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा गम्भीरता-पूर्वक हमारे जीवन में हुई है। अज्ञेय जैसा प्रबलतम वर्गीय व्यक्तिवादी शौर्य-दीप्त भाषा में कह सकता है—

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

अथवा—

अब तलक यह आत्मसंचय की कृपणता
यह घुमड़ता त्रास
दान कर दो खुले कर से, खुले उर से
होम कर दो स्वयं को समिधा बनाकर।

इस यथार्थवादिनी विचारसरणि ने जीवन के सभी पक्षों को समेटा है। आज का कवि छोटी से छोटी वस्तु को भी अकाव्यात्मक नहीं मानता है। यह विशेषता प्राचीन क्लासिकल दृष्टि की नितांत विपरीतवर्तिनी है। उस दृष्टि के अनुसार महान्, विराट् तथा धीरोदात्त ही कविता के प्रधान उपजीव्य थे तथा मृत्यु, जीवन, प्रेम और घृणा आदि शाश्वत विषय। प्राचीन दृष्टि-कोण भयानक को भी सहनीय तथा रुचिकर बनाकर उपस्थित करता था, परन्तु नया दृष्टिकोण भयावने को भी अपने रुचि का अंग समझता है। वह परिवर्तन को छोड़ कर किसी को भी शाश्वत नहीं मानता; निरपेक्ष सत्य जैसी किसी बात पर उसका किंचित् भी विश्वास नहीं है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को ही लिया जाय; वह मानता है कि हमारी प्रेमसम्बन्धी प्रतिक्रिया भी, केवल बाहरी और दिखावे के रूप में ही नहीं, बल्कि हमारी सम्पूर्ण मान-सिक प्रक्रिया जो उस ओर प्रभावित होती है, आज बदल गयी है। आजका ही कवि द्वितीया नायिका (पत्नी) से इतने अनावृत और निस्संकोच-भाव से कह सकता है कि मेरे सारे प्यार के वचन दूर किसी वनिता के जूठे हैं तथा—

उस अनन्यगता की स्मृति को
फिर दो सूखे फूल चढ़ा कर

उस दीपक की अनिमिष ज्वाल।
आदर से थोड़ा उकसा कर
मैं मानों उसकी अनुमति से
उसकी याद हरी करता हूँ
उससे कही हुई बातें
फिर-फिर तेरे आगे दुहरा कर

—अज्ञेय

नया कवि नये मूर्त्त संवेदनों को ही नहीं उपस्थित करता, बल्कि वह प्रेम, मृत्यु, प्रकृति आदि परम्परायुक्त एवं अमाय विषयों के प्रति होने वाली मानवीय स्वभावगत प्रतिक्रिया के परिवर्तनशील साचों तथा आदर्शों के लिये नये बिम्ब भी खोजता है। विज्ञानजन्य इस द्रुत परिवर्तनशीलता के मध्य मनुष्य जैसे वर्तमानवादी हो उठा है। आज हम विविध प्रक्रियाओं के प्रति अत्यधिक सचेत हैं तथा उनसे भली प्रकार परिचित। घटित होते हुये को हम अधिकाधिक अपनी बोध की पकड़ में लाना चाहते हैं। घटित होते हुये वर्तमान का इतना क्रियाशील, सर्जनात्मक बोध पहले कभी नहीं था।

हमें किसी कल्पित अजिरता का मोह नहीं।
आज के विविक्त अद्वितीय इस क्षण को
पूरा हम जी लें, पी लें; आत्मसात् कर लें।

—अज्ञेय

इन तनावों, संघर्षों और द्वंद्वों के बावजूद हमारे देश में इस बीच कुछ अभूतपूर्व घटनाएं घटित हुई हैं। उनसे हिंदी के साहित्यकार प्रभावित हुये हैं। उन्होंने रास्ते बदले हैं और वे नयी भावनाओं के सम्पर्क में आये हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध मे हमने पूरी तरह से भाग लिया। युद्ध हमारी सीमाओं के निकट ही नहीं था बल्कि कलकत्ते आदि मे बमबारी भी हुई। महायुद्धजन्य असन्तोष, बेकारी, महँगाई आदि देश मे उपस्थित हुईं। महायुद्ध की विभीषिका एवं परिणामों को गहनता से अनुभव किया गया। हमारे नैतिक मूल्यों पर से ईश्वर और धर्म के बन्धन पहले ही शिथिल हो चुके थे। इस महायुद्ध की विशृंखलता ने समाज एवं लोकनिंदा के भय को भी शिथिल कर दिया। व्यक्तित्व का और भी तीव्र विघटन हुआ। नैतिक मूल्य चरमराकर टूट गये। अतः इस विघटन, खोखलेपन तथा असन्तोष ने उस तरह के साहित्यसृजन को भी सहायता पहुँचायी जैसा कि प्रथम महायुद्ध के बाद यूरोप में लिखा गया था। अनिश्चय एवं दृढ़भाव-पंगुता इस साहित्य की विशेषता है, व्यक्तित्व के खोखले आधार का चित्रण भी इसमें है—

किंतु यहाँ आसपास घुमड़न है,
घुमड़न है, त्रास है,
मशीनों की गड़गड़ाहट में
भोली (कितनी भोली) आत्माओं की
अनुरणन की मोहमयी प्यास है ।

—अज्ञेय

यह अनिश्चय भी दृष्टव्य है—
लो सुनो, इतना ही कहना है सुनो
तुमसे मुझे, किंतु ठहरो तो, शायद
इससे भी अच्छी कोई बात याद आ जाये ।

—रघुवीर सहाय

अथवा यह मध्यवर्गीय जहनियत का संशय—
नहीं कभी भूले संघर्ष, करते रहे विचार-विमर्श
प्रबल तर्क थे दोनों के, हम क्या करते ?
कभी न हो पाया निश्चय, होगी किसकी अंतिम जय
भूल न कर बैठें, हम सदा रहे डरते ।

—भारतभूषण अग्रवाल

परन्तु यह अनिश्चय और अनास्थामूलक स्वर युद्धोत्तरकालीन साहित्य में प्रमुख और सशक्त स्वर नहीं है, यत्र-तत्र निराशा के क्षणों में यह गूँजता है या कौंध जाता है। यूरोपीय साहित्य जैसा अनास्था, संदेह और घृणा का क्षुब्ध रूप हमें अपने साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। इसका भी एक महत्व-पूर्ण कारण है। महायुद्ध की प्रभाववृद्धि के साथ ही एक सशक्त राजनीतिक चेतना सारे देश में जागृत हुई है। स्वतन्त्रता ने हमारे सम्मुख आशा के नये वातायन मुक्त किये, विश्वास तथा आस्था का नया क्षितिज सम्मुख आया। विदेशों में हमारी बढ़ती प्रतिष्ठा ने देशवासियों में आत्मशक्ति जागृत की, हम अपने भूत ही नहीं, भविष्य के प्रति भी आश्वस्त होने लगे। कुछ लोगों द्वारा की गयी "यह आज़ादी झूठी है" वाली उर्ध्वबाहु घोषणा के बावजूद भारतीय कलाकार ने इस उषाकाल को पहचानने में भूल नहीं की। इसी कारण तमाम अनास्था और संदेह के बीच भी आशा और विश्वास के स्वर उठते रहे, और निरंतर हो रहे आर्थिक विकास और सम्पन्नता के साथ ये स्वर बढ़ते ही जायेंगे। भवानी मिश्र की इन पंक्तियों को एक बार ऊँचे कण्ठ से पढ़िये—

छाती भर ऊँचा धान
गाओ कण्ठ गगन भर गान।

निम्नलिखित पंक्तियाँ इस संक्रांतिकाल के भीतर से दिखने वाली आशा की कितनी सशक्त व्यंजना करती है—

तड़के-तड़के जाने क्यों कोकिल बोला।
फिर बोला, फिर बोला, अंधकार की कारा
रह-रह थर्रायी। स्वर की ज्योतिर्धारा
बार-बार उमड़ी। कलकल की ध्वनि ने तोला
विकल और अवसन्न क्षणों को। धीरज डोला
दुख के दल का। इसमें क्या था जिससे हारा—
थका हृदय इतना-इतना पा गया सहारा।
अप्रियता को दुरा दिया सम्मुख प्रिय को ला।

—त्रिलोचन

आज का कवि अपनी परिस्थितियों और सीमाओं को जानते हुए भी विश्वास के साथ अपनी शक्ति को भी पहचान लेता है। वह प्रेयसी से पूरे विश्वास के साथ कह उठता है कि वह आयेगा, देर भले ही हो जाय—

तुमने मुझे बुलाया है, मैं आऊँगा
बंद न करना द्वार देर हो जाये तो।

—रमानाथ अवस्थी

मुर्गे के बांग देने पर सवेरे का होना निर्भर नहीं होता, पर जब और जहाँ मुर्गा पुकार उठता है वहाँ लोग जाग ही पड़ते हैं क्योंकि—

केवल निर्मल स्वर की धारा
उसकी अपनी है, जिसकी अविरत कलकल में
स्वप्न डूब जाते हैं जीवन के मधु पल में—
तम से लड़ता है इस पयस्वी के द्वारा।

—त्रिलोचन

हमारे देश की स्वतंत्रता के अतिरिक्त एक और विचार है जिसने इस सारी अव्यवस्था और अनिश्चय के अन्धकार में जाकर एकसूत्रता पिरोयी है। वह संयोजक विचार है सामाजिक और मनोवैज्ञानिक मनुष्य की सर्वोपरिता तथा सर्वोत्कर्षित स्थिति। इस एकता ने कवि के विशृंखल होते हुए अस्तित्व को दृढ़ता प्रदान की है। एक प्रकार की सांकेतिकता नवाब 'नवकुसुम' के बीच की कड़ी है—

वह भूमि किंतु न मिट सकी
आगत फसल की राह में,
वह फूल मुरझाया नहीं
ऋतु रंग लाने के अमर विश्वास में।
वह आग की पीली शिखा
उठती रही, जलती रही
आलोक-करण तम से बचा,
वह अग्नि बीजों को सतत बोती रही
फिर से नया सूरज उगाने के लिए।

—गिरिजाकुमार माथुर

उनकी यह भी आकांक्षा है कि—

मन के विश्वास का सोनचक्र रुके नहीं
जीवन की यह पियरी केसर कभी चुके नहीं

इस तनाव तथा अनिश्चय, संघर्ष और एकता एवं आस्था-अनास्था ने त्यधिक विचित्र परन्तु आकर्षक साहित्य को जन्म दिया है। इस साहित्य कलन असाधारण रूप से कठिन है, परन्तु इसका आकलन एवं अध्ययन भविष्य के बढ़ाव का भी अध्ययन है। यही इसकी सबसे बड़ी उपयो- है। इस अध्ययन और आकलन में सबसे पहले देखने की बात है कि कवियों का तात्कालिक देय और अंततः अतीतकालीन साहित्यकारों पार्श्व में महत्व क्या है? इसके लिए हमें साहित्यकार के व्यक्तित्व के जानना पड़ेगा। उनका उद्देश्य क्या है, किन परिस्थितियों के भीतर वे ते हैं और परिश्रम किया है? इस दृष्टि से नये काव्य का मूल्यांकन वश्यक है। यों नये कवि को कोई जल्दी नहीं है—

क्या हुआ जो युग हमारे आगमन पर मौन?
सूर्य की पहली किरण पहचानता है कौन?
अर्थ कल लेंगे हमारे आज के संकेत।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य : एक सर्वेक्षण

आजादी के बाद हिन्दी में कितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, इसके आंकड़े इकट्ठे किये जा सकते हैं। यदि कोई यह पूछे कि प्रमुख साहित्यिक कृतियां कौनसी हैं, तब भी शायद कमवेशी एक सूची तैयार की जा सकती है। परन्तु स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य की प्रमुख उपलब्धियां क्या हैं, विकास की दिशाएं क्या हैं, यह बतलाना कठिन है। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता के सदर्भ में इन उपलब्धियों का मूल्य, महत्व और औचित्य क्या है? यह प्रश्न भी अत्यन्त स्वाभाविक एवं जटिल है। आगे हम इन्हीं प्रश्नों की सीमा में १९४७ के बाद के साहित्य का लेखा-जोखा लेने की चेष्टा करेंगे।

अगस्त, १९४७ में दो अत्यधिक महत्वपूर्ण घटनाएं लगभग एक साथ घटित हुईं जिन्होंने हमारे आगे के समस्त क्रिया-कलाप पर अपना गहरा प्रभाव डाला। देश का बंटवारा और आजादी का आगमन—इन दो घटनाओं ने एक साथ ही हमें एक ही स्तर पर लेकिन भिन्न दिशाओं की ओर मोड़ा। विभाजन ने भारतीय मन पर जो गहरा घाव छोड़ा वह आज तक नहीं मिट सका। केवल धर्म के आधार पर एक संगठित राष्ट्र को बीच से चीर देना, सामान्य घटना न थी। सारा देश स्तब्ध हो गया। फिर इस विभाजन के कारण और परिणाम में जो रक्तपात हुआ, उसने तो सम्पूर्ण मनीषा को जैसे किंकर्तव्यविमूढ़ कर दिया। इस विमूढ़ता को गांधी हत्याकाण्ड ने और गहरा कर दिया। दूसरी ओर लम्बे संघर्ष के बाद आने वाली मुक्ति के प्रति एक सहज उल्लास एवं आस्था का भाव था। इस प्रकार एक दूसरा दबाव व्यक्तित्व पर पड़ रहा था। उधर युद्धकाल के पूर्व से ही मध्यवर्ग पर गहरा आर्थिक दबाव पड़ता आ रहा था। युद्ध और स्वातंत्र्य-संघर्ष की उत्तेजना में उसे लोग कुछ भूले से थे—परन्तु स्वतन्त्रता के बाद ही उस दबाव को और तेजी से महसूस किया गया बल्कि कहना यों चाहिए कि यह दबाव अधिकाधिक बढ़ता गया। युद्ध-उद्योगों के समाप्त होने, विभाजन से उत्पन्न अनेक समस्याओं तथा राजनीतिक दलों की स्वार्थपरता के आगे सारा भविष्य धुंधला हो उठा। अतः प्रारम्भिक वर्षों (४७ से ५०–५१ तक) के हिन्दी साहित्य में एक निराशा, क्षोभ, अनास्था, वैयक्तिक कुण्ठा एवं विघटन (वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक) की कड़वाहट देखी जा सकती है। यह

इतनी बड़ी दुश्चिन्ता का समय था, जबकि लेखक को रचना के लिए अपेक्षित एकाग्रता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन हो गया। सम्भवतः इसी कारण इस क्षोभ को अभिव्यक्ति देने की चाह होते हुए भी श्रेष्ठ कलाकृति एक भी नहीं आ सकी। आश्चर्य न होना चाहिए कि गाँव के स्तर पर (एवं भारत की वास्तविक सत्ता अभी भी गाँव ही है) इस निराशा एवं दुख की अभिव्यक्ति काफी बाद सन् ५४-५५ में 'रेणु' के 'मैला आंचल' में हुई।

यहीं पर एक प्रश्न पूछा जा सकता है कि यदि साहित्य, संवेदना एवं आवेग का प्रकाशन है, तो विभाजन के साथ शुरू होने वाले हत्याकाण्ड, बर्बरता, शरणार्थियों की करुणाजनक अवस्था पर हिन्दी में एक भी श्रेष्ठ कृति क्यों नहीं लिखी जा सकी ? मैं समझता हूँ कि इसके दो उत्तर हैं— प्रथम तो यह कि इन सारी घटनाओं का केन्द्र-स्थल हिन्दी-प्रदेश न था—इस कारण उसके परिणाम एवं गम्भीरता को प्रारम्भ में अनुभूत नहीं किया जा सका। कानों से सुनकर या कल्पना से देख कर जिन रचनाओं की सृष्टि हुई, उनमें वह मार्मिकता नहीं आ सकी जो पंजाबी एवं उर्दू-रचनाओं में हमें उपलब्ध होती है। दूसरा कारण वह दुहरा दबाव है, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। पंजाबी और उर्दू के क्षेत्र में यह दुहरा दबाव नहीं हो सका— क्योंकि वहाँ विभाजन का यथार्थ इतना विराट था कि आजादी जैसी चीज का उल्लास वे कुछ दिनों तक अनुभव ही नहीं कर सके। इसी कारण हिन्दी की अपेक्षा पंजाबी एवं उर्दू-साहित्य में हमें विभाजन की अधिक दर्दनाक अभिव्यक्ति मिल जाती है।

ऊपर हमने आर्थिक परेशानी का जिक्र किया है। इस दबाव ने भी देश में कम निराशा नहीं भरी थी। सवाल यहाँ उठता है कि क्या आज परिस्थिति पहले से कुछ बहुत बदल गयी है ? तथा इस बदलने या न बदलने का साहित्य के सृजन और कथ्य पर क्या प्रभाव पड़ा है ? आर्थिक आंकड़ों का विश्लेषण करने पर यह पता चलता है कि राष्ट्रीय आय चाहे बढ़ क्यों न गयी हो, परन्तु वैयक्तिक स्तर पर अवस्था शायद बिगड़ ही गयी है। साथ ही साहित्य के क्षेत्र में एक अजीब-सी बात दिखायी देती है कि पिछले ६-७ वर्षों में आस्था, उल्लास एवं आशा के स्वर प्रबल बने हैं। स्वतन्त्रता के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में इन्हीं आर्थिक कष्टों आदि से पीड़ित होकर कुछ अदूरदर्शी यह आवाज लगा रहे थे कि यह आजादी झूठी है। इन लोगों ने ऊर्ध्वबाहु घोषणाएँ की कि हिन्दी साहित्य में गतिरोध है। कहना न होगा कि आँखें बन्द करके प्रकाश का अभाव चिल्लाने वाले इन लोगों को अपने स्वर उधारने ही पड़े और यह मानना पड़ा कि आजादी झूठी नहीं है और साहित्य में

प्रतिरोध भी नहीं है। यह देख-सुन कर मन में सहज ही शंका उठती है, कि ऐसा कौन-सा गुण या परिमाण का अंतर हो गया है, जिसने १९५१ के आसपास से 'कविता की मौत' को मानने से इन्कार कर दिया तथा 'सीढ़ियों के टूट जाने में' भी सुख का अनुभव होने लगा, क्योंकि विश्वास यह था कि बिना सीढ़ियों के भी तीर की तरह बढ़ेंगे। (दूसरा सप्तक में भारती और भवानी प्रसाद मिश्र)। ऊपर हम कह चुके हैं कि परिणाम की दृष्टि से आर्थिक सम्पन्नता में स्थिति सुधरी नहीं है; परिवर्तन वास्तव में गुणात्मक हुआ है।

प्रारम्भिक वर्षों में जहाँ सारा वर्तमान कष्टपूर्ण एवं भविष्य अनिश्चित एवं कुछ हद तक निराशाजनक प्रतीत होता था, वहीं वर्तमान में अब भी कष्ट होते हुए भी भविष्य के प्रति हम आश्वस्त हो उठे हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व हमारे मन में जो धारणा स्वतन्त्रता की थी—उसमें एकदम से सुखी जीवन प्राप्त कर लेने का विश्वास था। तब हम स्वतन्त्रता के दायित्वों एवं निर्माण की तपस्या से परिचित नहीं थे। इस कारण भी प्रारम्भिक वर्षों में एक निराशा आयी। परन्तु ज्यों-ज्यों हम स्वतन्त्रता एवं निर्माण के इन प्रश्नों से परिचित हुए त्यों-त्यों हमारी आशा की किरणें अधिक दूर तक तिमिर को काटने में समर्थ हो सकी हैं। इधर के नये कवियों में बहुधा 'कल उगने', 'कल आने', 'नया सूरज उगाने' या 'नये सूरज का स्वागत' या 'सुबह के अगले पन्ने पर पहली सतर लिख देने' का जो 'संकल्प' है अथवा 'आओ हम फिर से जियें' की जो भावना है, वह इसी भविष्योन्मुखी कर्म-प्रधान दृष्टि का परिचायक है। यहीं पर हम यह भी याद दिला देना चाहेंगे कि वर्तमान का कष्ट घटा नहीं है—और यदि समसामयिक कवि उसे एकदम अनदेखा करके भविष्योन्मुख ही हो पड़ता है, तो उसे यथार्थ का संवेदनशील चितेरा रहना कठिन हो जायगा। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कवि का अपना मानसिक गठन होता है, उसी के अनुरूप वह अपने चतुर्दिक बिखरी जीवन की प्रतिक्रियाएँ अभिव्यक्त करता है। ऊपर उल्लिखित दो अवस्थाओं के प्रति एक साथ या अलग-अलग कवियों ने अपने को व्यक्त किया है। 'क्षणवाद' तथा 'बौने व्यक्ति' के सिद्धान्तों में आधुनिक जीवन की निराशा या कुण्ठा, अनास्था या सन्देह को भी आश्रय मिला है। कभी-कभी एक ही कवि में ये दोनों प्रतिक्रियाएँ एक साथ ही मिल जाती हैं।

तमाम प्रकार के स्वरों के बीच विकसित होने वाले इस [illegible] के दोनों छोरों को सबसे अधिक उभार कर रूप में हम गिरिजाकुमार माथुर' के ज्ञात कर सकते हैं। "धूप के धान" में जहाँ स्वतन्त्रता के बाद से लेकर प्रथम 'जन-निर्वाचन' तक के सुख-दर्द की तीव्र अभिव्यक्ति है। भारतीय-

कथा' उन प्रयत्नों की कथा के स्तर पर संवेदनशील अभिव्यक्ति है जो भा
तीय गाँव को आज नया जीवन प्रदान कर रहे हैं, उसे भीतर से आन्दोलि
करते हुए नये मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में सहयोग दे रहे हैं। 'मैला आँच
का डाक्टर जो 'समाज सेवा' के हवाई आदर्श को लेकर जाता है, गाँव
धरती से अधिक गहरा मानवीय नाता (विवाह करके) जोड़ कर मानो अधि
महत्वपूर्ण कार्य करने के लिए 'परती-परिकथा' का जित्तन बनता है।

इस बीच की कठिनाइयों ने हमारे साहित्य में एक नयी चीज
और उभारा है—और वह है व्यंग्य। कठिनाइयों के बीच कमजोर आद
बहुधा एकदम मूक हो जाता है तथा शक्तिशाली एवं जिन्दादिल कड़वाहट
व्यंग्य-प्रधान हो उठता है। हिन्दी के समसामयिक साहित्य में व्यंग्य का प्र
उपयोग हुआ है। यह हमारे देश की जीवन्त शक्ति का प्रमाण है। व्यं
के लिए भाषा भी बड़ी धनी चाहिये। इधर हमारे साहित्य में अभिव्यंज
के लिए जिन नयी पद्धतियों एवं व्यंजनाओं की खोज की गयी है, उन
मूल में व्यंग्य-रक्षा का प्रश्न भी विद्यमान है। व्यंग्य के सम्बन्ध में यह
ध्यान में रखना चाहिए कि व्यंग्यकार को अत्यधिक आत्मसजग होना पड़
है। घटित होते हुए का अत्यन्त सजग बोध भी हमारे आज के साहित्य
एक प्रमुख विशेषता है। यह सजगता और बोधवृत्ति एक ऐसी बौद्धि
तटस्थता देती है जो मनुष्य को हर परिस्थिति को झेलने की भी शक्ति दे
है, तथा उसे इस क्षमता का प्रदान भी करती है कि स्वयं अपनी चेतना
विश्लेषण कर सके। इस बिन्दु पर समसामयिक साहित्य छायावाद ए
छायावादोत्तर कैशोर भावना से एकदम पृथक् है। आत्मवर्णन वहाँ भी
पर अपने महत्व अथवा अपने शोक या कष्ट का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन
विश्लेषण नहीं। परन्तु नये साहित्य में अपनी वर्तमान अवस्था के प्रत्य
वर्णन की अपेक्षा चेतना के मूल कारणों तक दृष्टि जाती दिख
देती है।

व्यक्ति के क्षेत्र में चेतना की चेतना तक जाती हुई यह सजगता ज
सामाजिक क्षेत्र में पदार्पण करती है तो समाज के विविध चरित्रों, घटना
एवं परिस्थितियों से से कुछ का चयन करके एक-एक छोटा-सा व्यवस्थि
गुलदस्ता बनाने की बजाय पूरे जीवन-खण्ड को समेटती है। इसे यों भी क
सकते हैं कि यह संचरण व्यक्ति से समाज की ओर होता है न कि समाज
व्यक्ति की ओर। 'अकेला स्नेह भरा दीप' जब पंक्ति को समर्पित होता
तब उसकी कथात्मक अभिव्यक्तियाँ भी पूरे जीवन-खण्ड को ही प्रकाशि
करना चाहती है। यदि हम स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-उपन्यासों को पढ़ें

सजगता के ये दोनों रूप हमें उपलब्ध हो जाते हैं। व्यक्ति की चेतना का बोध हमे अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में 'नदी के द्वीप' में प्राप्त हो जाता है एवं जीवन-खण्ड का चित्रण रेणु, अमृतलाल नागर, नागार्जुन, उदयशंकर भट्ट आदि के तथाकथित आंचलिक उपन्यासों में। इधर इन उपन्यासों की आंचलिकता पर बहुत जोर दिया गया है। मुझे ऐसा लगता है कि वास्तव मे यह आंचलिकता माध्यम है, समग्र जीवन-खण्ड को व्यक्त करने का। रेणु में ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति हुई है तथा अमृतलाल नागर के 'बूंद और समुद्र' में नगर के एक मुहल्ले को उसकी पूरी पृष्ठभूमि में उपस्थित किया गया है। यहीं इस बात का उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस सजग व्यापक दृष्टिकोण के फलस्वरूप अनुभव-क्षेत्र का भी विस्तार हुआ। यह विस्तार सबसे प्रखर रूप में कथा-साहित्य के क्षेत्र मे देखा जा सकता है। सन् ३६ से ४९-५० तक के साहित्य में हमे मध्यमवर्ग के ही विविध रूपों का आकलन मिलता है। (कुछ अपवादों को छोड़कर—वे भी मुख्य रूप से काव्य के क्षेत्र में। कथा-साहित्य में प्रगतिवाद के कारण मजदूर-वर्ग भी आया। ग्रामीण जीवन की परम्परा नागार्जुन मे अवश्य सुरक्षित रही) परन्तु ४९-५० के बाद से ग्रामीण जीवन का फिर से प्रवेश हुआ। प्रारम्भ में यह प्रवेश बहुत कुछ रोमांटिक तथा विशिष्ट रहा, 'रेणु' के उपन्यासों तक आते-आते यह व्यापक सामाजिक सन्दर्भ में प्रतिष्ठित हुआ। हिन्दी में ऊपरी वर्ग का चित्र प्रामाणिक रूप से कम उपलब्ध होता है। नये साहित्य में अज्ञेय, राजेन्द्र यादव ने ऊपरी वर्ग की बौद्धिकता (?) भी उपस्थित की, एवं राजेन्द्र यादव ने उसकी प्रामाणिक बखिया उधेड़न भी की। 'उखड़े हुये लोग', 'कुलटा', 'शह और मात' में हमें ऐसे चरित्रों के भी दर्शन होते हैं, जो सामान्य हिन्दी-पाठक के लिए कुछ दूर की वस्तु रहे हैं—यद्यपि सामाजिक जीवन में वे महत्वपूर्ण हैं, विशेष रूप से आज के व्यावसायिक जीवन में।

कहते हैं कि समृद्ध एवं सुसंस्कृत दृष्टि के विकास के साथ ही किसी देश में नाटक का विकास होता है। नाटक अनिवार्य रूप से रंगमंच से सम्बन्धित होता है तथा रंगमंच किसी न किसी प्रकार के रुचि-परिष्करण से सम्बन्धित अवश्य होता है। रंगमंचीय साधन भी व्यय-साध्य होते हैं। हिन्दी नाटक अब तक रंगमंच-असम्पृक्त विकसित हुआ है। स्वतंत्रता के बाद सरकारी, गैर सरकारी अनेक स्तरों पर रंगमंचीय आवश्यकताओं पर ध्यान दिया गया है; परिणामस्वरूप हिन्दी-नाटक अपने कथ्य में चाहे अभी प्रसाद से आगे न बढ़ पाया हो, परन्तु जहाँ तक अभिनेयता, मंच-सज्जा, मंच-निर्देश

ादि का प्रश्न है, हिन्दी नाटककारों का ध्यान गया है। मौलिक नाटकों के तिरिक्त, कथा एवं काव्य कृतियों को भी नाट्य-रूप दिया गया एवं उनका फलतापूर्वक अभिनय भी हुआ है। रेडियो द्वारा नाटकों के क्षेत्र में एक र्वथा नयी साहित्य-विधा (श्रव्य-नाटक) का भी विकास हुआ है।

ऊपर साहित्य के क्षेत्र मे जिन नयी प्रवृत्तियो एवं क्षेत्रो की चर्चा ई, वे अनिवार्य रूप से अपने अभिव्यंजन के लिये नये शिल्प की माग करते । पुराने मुहावरो एव रूपाकारो के भीतर उन्हे बाध रखना सम्भव नही । इसके लिए साहित्यकारो को नयी अभिव्यंजन-शैलियां, नये रूपगठन ोजने और स्वीकारने पड़े है। इस तथ्य को ध्यान मे न रखने के कारण हुधा पुराने ढंग के लेखक या पाठक रूप-विधान की अव्यवस्था, विशृङ्खलता, ाधना का अभाव आदि आरोप लगाते हैं। आधुनिक और दिन-पर-दिन टिल हो रहे जीवन के जिन नये प्रतीकों या पुराने प्रतीकों को जिस नये ंदर्भ मे प्रतिष्ठित करना पड़ता है, उन्हें सहानुभूति के साथ समझना होगा। गोलियों से बना फूल' हो या 'कैक्टस का गमला'; 'मुट्ठियो के बीच से निकलती रेत' हो या 'चक्रव्यूह में पड़ा अभिमन्यु' हो—ये सभी एक ऐसे गहरे यथार्थ की ओर सकेत करते हैं जो एक साथ ही वैयक्तिक और सामाजिक है। ये प्रतीक सम्मिलित रूप से आन्तरिक मन.स्थिति एव बाह्य वातावरण के सूचक हैं। नये साहित्य के शिल्प के उपादान कुछ बधे-बंधाये क्षेत्रो एवं लक्षण-ग्रंथो से नही लिये जाते, प्रकृति की केवल मृदुल-मेलव वस्तुओं का संग्रह ही प्रयोज्य नही है; सिंदरी के कारखाने की गड़गड़ाती मशीनों, वाल्वों, हैंडिलो का उपयोग उसके लिये उतना ही अनिवार्य है जितना संथाल की 'वंशी और मादल' का। अश्वत्थामा और कृष्ण भी उसके अभिप्राय-वाहक हैं एवं 'पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता' या 'मीनार शिखर पर प्रार्थी मुल्ला' भी।

जिसे बहुधा लोग कथातत्व का ह्रास समझते हैं, वह वास्तव मे या तो कथ्य को विविध कोणों से उजागर करने की विधि है, या फिर सघन संवेदना के क्षणों को यथार्थ के पूरे आवेश मे पुनर्वर्तमान करने का प्रयास। इसके लिए लेखक कथोपकथन का नाटकीय ढंग, डायरी या स्वगत की निजी अभिव्यंजनाएँ, स्मृत्यालोक की मनोविश्लेषणात्मक पद्धति, काव्य के प्रतीक और बिम्ब-विधान इन सबका सम्मिलित और सचेष्ट उपयोग करने का प्रयास करता है। साहित्य के गद्य और पद्य रूपो मे परस्पर इतनी सघन सम्पृक्ति युगों के बाद समसामयिक साहित्य मे ही उपलब्ध होती है। ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओ को आत्मसात् करके उनके आधार पर जीवन और जगत के अनुभव, बिम्बों की परख और निर्माण तथा उनके लिये एक ऐसे मुहावरे

की खोज जो एक साथ ही वैयक्तिक एवं सार्वजनिक हो, अपने आप में नितान्त जटिल कार्य है। पर नया लेखक इस सन्तुलन के लिए कटिबद्ध है। स्वतंत्रता ने उसके सम्मुख नये वातायन मुक्त किये हैं, आज वह विश्व-नागरिक बनने की अधिक सुविधापूर्ण स्थिति में है, ज्ञान की उपलब्ध राशियों के प्रयोग के लिए उसे छूट है, अनुभव के क्षेत्र को बड़ा बनाने की गुंजाइश है। भौतिक सुविधाओं के क्षेत्र भी अपेक्षाकृत अधिक सुलभ हैं आज के लेखक को। ऐसी स्थिति में यदि हमें आज के साहित्य-सृजन में एक गहरी हलचल और प्रयत्न-बहुलता प्राप्त होती है तो आश्चर्य ही क्या ? अभी तो ज्यों-ज्यों स्वातन्त्र्य-वृक्ष के फल हमारे राष्ट्र को चखने को मिलेंगे, ज्यों-ज्यों आर्थिक सम्पन्नता व्यापक जनसंख्या की शिक्षा और संस्कृति की सुविधाएँ दे सकेगी, त्यों-त्यों हमारे साहित्य के क्षेत्र मे ऐसी प्रतिभाओं को प्रवेश करने का अवसर मिल सकेगा; जो अभी तक शिष्ट-साहित्य से दूर थीं। ऐसे लोगो के अनुभव के क्षेत्र नये होंगे, उनकी अभिव्यक्ति के माध्यम भी और नये होंगे। हमारा वर्तमान साहित्य आगे आने वाले इसी विराट् युग की भूमिका है, उसकी तैयारी है—और यही उसकी सबसे बड़ी *उपलब्धि भी सिद्ध होगी।*

नयी कविता का नयापन : परिचयात्मक बातचीत का एक अंश

[दो मित्र गंगा-घाट पर बैठे बातें कर रहे थे, पता नहीं कैसे बातों
रुख साहित्य की ओर चला गया और साहित्य मे भी 'नयी कविता' की
र। इन पंक्तियों का लेखक भी निकट ही बैठा धूप की गरमी ले रहा
: उसकी भी साहित्य में दिलचस्पी है, उसने उन मित्रों की बातचीत को
ासम्भव नोट कर लेने का प्रयत्न किया। अनावश्यक अंश जो बातचीत मे
आते हैं उनको लेखक ने छोड़ दिया और उस कथोपकथन के आवश्यक और
ासंगिक अंशों की ही रिपोर्ट उपस्थित की जा रही है। इसी कारण वार्ता-
न की दृष्टि से यह गद्य-खण्ड उखड़ा-उखड़ा है पर मूल बात सब मिलाकर
मे व्याप्त है। रिपोर्टर की सीमाओं का ध्यान रखते हुये पाठकों और
लोचकों से निवेदन है कि इसकी समीक्षा-परीक्षा वार्तालाप की टैक्नीक
र निबन्ध के शिल्प की दृष्टि से न कर इसमे अभिव्यंजित तथ्यों की दृष्टि
ही करें, तभी उन मित्रो के प्रति न्याय हो सकेगा। एक मित्र का नाम
नकृष्ण था और दूसरे का किशनचन्द, यह प्रारम्भ में ही बता देना आव-
क है जिससे कि परिचय कराने की भूमिका न देनी पड़े।]

बालकृष्ण—किशन बाबू, इसके पूर्व कि मैं आप से पूछूं नयी कविता
ा है, मैं पूछना चाहता हूँ कि उसकी आवश्यकता ही क्या है ?

किशनचन्द—भाई, मैं इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व एक ही
त पूछना चाहता हूँ कि कविता की ही आवश्यकता क्या है ? या
व्यापक रूप देकर पूछना चाहे तो साहित्य की ही क्या आवश्य-
ता है ?

बालकृष्ण—भला यह भी कोई पूछने की बात है। साहित्य हमारे
ग-विरागों, आशा-आकांक्षाओं, संवेदनाओं का प्रकाश है तथा मानवस्वभाव-
भित अभिव्यक्ति की भूख को संतुष्ट करता है।

किशनचन्द—बस यही मेरा उत्तर है दोस्त। आज के इस नये युग
राग-विराग, आशा-आकांक्षा, युगसत्य एवं यथार्थ संवेदनाओं को भी तो
भिव्यक्ति मिलनी चाहिये। नयी परिस्थितियाँ पुरानी परिस्थितियों से पृथक्

हैं, इसीलिये नयी कविता या नये साहित्य की आवश्यकता है।

बालकृष्ण—परन्तु फिर प्रत्येक युग..............

किशनचन्द—मैं आपकी आपत्ति को समझ रहा हूँ, आप यही कहना चाहते हैं न कि हर युग की कविता नयी होती है, फिर इसको ही नया क्यों कहा गया ? है न यही बात ?

बालकृष्ण—हाँ जी।

किशनचन्द—आपकी आपत्ति उचित है, पर इसकी कुछ सफाई देना चाहूँगा।

बालकृष्ण—चाहूँगा क्यों, अच्छी तरह से सफाई दीजिये, मना कौन करता है ?

किशनचन्द—दोस्त, यह युग वास्तव मे पिछले युग से इतने तीव्र रूप से पृथक् है कि लगता है कि इसका नयापन विकसित होता हुआ नहीं बल्कि फाँदता हुआ आया है। यह नयापन एकदम स्पष्ट रूप से एक ही पीढ़ी के आदमी को अनुभव होता है। यह भी कहा जा सकता है कि यह युग इतना जटिल है कि इसकी किसी एक प्रमुख विशेषता की ओर इङ्गित करना कठिन बात है। यदि इसे आप वैज्ञानिक कविता कहें तो मेरा विचार है कि प्रबुद्ध व्यक्ति अपने युग के ज्ञान-विज्ञान से कभी भी असम्पृक्त नही रहता और इतना तो आप भी मानियेगा कि कवि को प्रबुद्ध तो अवश्य गिना जाता है बाकी और कुछ कहा जाय या नहीं। यदि आप इसे यान्त्रिक कविता कहे तो यह शब्द भी बड़ा भ्रामक है; क्योकि इसमें कुछ ऐसी ध्वनि है जो इसे यन्त्र से उद्भूत या यन्त्र से सम्बंधित अथवा यन्त्रवत् सिद्ध करती है। पर वास्तव मे ऐसा तो नही ही कहा जाना चाहिए। एक बात और है कि नये रंग-ढंग लेकर आने वाली इस कविता को एक नाम दे दिया गया जैसे कि छायावाद का नामकरण हो गया था। परन्तु जिस प्रकार छायावाद शब्द की अभिधा के आधार पर उस काव्य का रूप भी अस्पष्ट रह जाता है वैसे ही नयी कविता कहने से कुछ विशिष्ट नयेपन का बोध मात्र होता है। यह मैं मानता हूँ कि स्वरूप-सम्बन्धी अस्पष्टता शेष रह जाती है; पर भाई यह तो नामों की असमर्थता है। यों तो भक्ति-कविता (जब कि भक्ति का एक निश्चित अर्थ स्थापित हो चुका था) कहने से भी उसके रूप का स्पष्ट आकार हमारे सामने नहीं आ पाता।

बालकृष्ण—प्रयोगवाद नाम भी तो लोगों ने चला रक्खा है ?

किशनचन्द—हाँ, प्रारम्भ में इस काव्य के नूतन प्रयोगों को देख कर लोगों ने छायावाद के समान इसे भी बदनामी के सेहरे के रूप में प्रयोगवाद

संज्ञा देनी चाही, परन्तु उस धारा के कवियों ने भी इसका विरोध किया और इस शब्द की असंगति भी स्पष्ट हुई। लोगों ने प्रयोगवाद को प्रगतिवाद से भिन्न करके देखना चाहा। पर जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि ये लेबुल भ्रामक हैं, बिलगाव कृत्रिम रूप से उपस्थित करते हैं। नये तत्व दोनों प्रकार की कविताओं में है ··· ··· ······।

बालकृष्ण—(बीच में काटते हुये) तो फिर उन समान तत्वों के आधार पर नामकरण होना चाहिये, नयापन क्यों जोड़ देते हैं, आप लोग ? मेरे विचार से तो आप अनावश्यक बल इस नयेपन पर देते हैं और इस नयेपन के माध्यम से अपनी महत्ता घोषित करते हैं।

किशनचन्द—नहीं भाई ? यह जो 'मोटिव' आप हम पर लाद रहे हैं, ऊपर से सच दिखने पर भी वास्तविक नहीं है। वास्तव में ये नये तत्व इतने जटिल, परस्पर गुम्फित और अनेकमुखी हैं कि उनको, किसी एक को, अलग कर लेना काफी से अधिक कठिन कार्य है। इसलिये हम इन तत्वों को भी विशेषित करने वाले शब्द 'नयी' को ग्रहण करते हैं। यानी कि वह विशिष्टता जो इन सबको कुछ विशिष्ट बनाती है तथा औरों से अलग करती है। इसीलिये हम प्रगतिवाद और प्रयोगवाद साइनबोर्डों को चिपकाना अनुचित समझते हैं।

बालकृष्ण—आपकी बात से तो यह सिद्ध होता है कि नागार्जुन और अज्ञेय, शमशेर और गिरिजाकुमार एक जैसे कवि हैं और यह आप मानेंगे कि इनकी विचारधाराओं में परस्पर पर्याप्त वैषम्य है।

किशनचन्द—नहीं यह बात नहीं सिद्ध होती। एक उदाहरण मैं अपनी बात के सम्बन्ध में देना चाहूँगा : सूरदास और तुलसीदास, कबीर और नन्ददास ये लोग पृथक मन स्थिति और डिसिस्टम्ट शिल्प के कलाकार थे पर वे भक्ति-कविता के थे। निराला और पन्त के कृतित्व भिन्न हैं पर मूल में कुछ ऐसा है जो उन्हें छायावादी बनाता है। यही स्थिति इन प्रगतिवादी और प्रयोगवादी कवियों के मध्य में स्थित नयेपन की भी है।

बालकृष्ण—अगर आप ऐसा मानते हैं तो कृपया यह बताएं कि नयापन क्या है जिसे आप इस कविता का मूल और विशिष्ट लक्षण मानते हैं ?

किशनचन्द—बाउ 'टु द प्वाइण्ट' होते रहें इसके लिये मैं आप एक सवाल पूछ लेना उचित समझता हूँ कि आप नयी कविता किसको मानते हैं जिसके विरुद्ध आपके मन में इतना आक्रोश संचित है ?

बालकृष्ण—कौन मैं ? अरे भाई यह तो किसी राह-चलते से भी पूछ लीजिये वह आपको बता देगा कि नयी कविताएँ वे हैं जो टेढ़ी-सीधी, लम्बी-छोटी लाइनों में लिखी जाती हैं; छन्द का जहां पर नाम-निशान नहीं होता, उल्टे सीधे विराम-चिन्हों की भरमार होती है, चौंकाने वाली उपमाएँ ठूँसी जाती हैं और अर्थ का तो भगवान ही मालिक। पता नहीं इनके रचयिताओं को भी अर्थ मालूम रहता है या नहीं ?

किशन०—पहचान तो आपकी सच्ची सी है पर पकड़ तनिक गलत दिशा से आयी है। इन्हीं चीजों को उनके सही परिप्रेक्ष्य एवं वास्तविक निहितार्थों के साथ यदि आप देखें तो उन्हें फिर इतने विकृत ढंग से उपस्थित न करना चाहेंगे। इसके लिये मेरा प्रस्ताव है कि आप तनिक यह तो जांच कर देख लें कि यह सारी गड़बड़ी क्यों उपस्थित है ? कौन से ऐसे कार्य-व्यापार या घटनाएँ घटित हो गयी हैं जिन्होंने कविता और साहित्य को आपके कथन के अनुसार अजायबघरी बना दिया है : तात्पर्य यह कि वे नवीन मान्यताएँ या नयापन क्या है जिन्होंने इस कविता को जन्म दिया है।

बालकृष्ण—यह जो नयापन या नयायुग आप कह रहे हैं किशन जी, क्या यह ऐसी कोई निरपेक्ष वस्तु है जो और किसी युग में नहीं रही। इसके अतिरिक्त अन्य युगों के नयेपन ने क्यों नहीं सारे काव्य को विशृंखलित किया; फिर आज तो समाज के सारे सूत्र अधिक घनीभूत हो गये हैं, वे परस्पर दृढ़ता से गुम्फित हैं। शासन-व्यवस्था इतनी अधिक व्यवस्थित, विस्तृत एवं व्यापक (Pervading) और कभी नहीं थी। यान्त्रिकता ने सारे जीवन को एक मशीनी सिस्टम के भीतर ढाल दिया है, फिर कविता या साहित्य क्यों अस्तव्यस्त हैं, समाज का यह प्रतिबिम्ब अपने विपरीत रूप में क्यों वहां उपस्थित है।

किशनचन्द—बालकृष्ण जी, आपने एक साथ इतने अधिक प्रश्न उठा दिये हैं कि भ्रम में पड़ जाने की आशंका है। इसलिये आइये एक-एक सवाल पर हम लोग विचार करें। नयापन, यह सही है कि, कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है। बल्कि मैं तो यह भी कहूँगा कि आज के नयेपन की कुछ वृत्तियां एवं विशिष्टताएँ पूर्व युगों में भी आ चुकी हैं। इसी कारण किसी-किसी युग का काव्य और कथाएँ हमें अधिक निकट जान पड़ती हैं और हम उसमें रस ही नहीं लेते, वहां से नवीन काव्य-सृष्टि के लिये प्रेरणा भी ग्रहण करते हैं, उनको उपजीव्य बना कर नयी रचनाएँ करते हैं। मेरा अनुमान है कि यदि

प्राचीन साहित्य के मूल और प्रेरक ग्रन्थों का अध्ययन इस दृष्टि से किया जाय कि किस युग का साहित्य किस ग्रन्थ से कितना प्रभावित हुआ है तो यह बात अत्यन्त रोचक ढंग से प्रगट होगी कि कोई स्रोत किसी युग में अधिक प्रिय होता है और कोई किसी युग में अधिक निकट प्रतीत होता है। आज के युद्धोन्माद से पीड़ित युग में बहुधा लेखकों का ध्यान 'महाभारत' की ओर चला जाता है। कर्ण को लेकर कितने महाकाव्य आये, भगवतीचरण वर्मा, भारती, दिनकर आदि कितने लोगों ने उसे काव्य का आधार बनाया है।

चक्रव्यूह के प्रतीक ने ही भारती और कुंवरनारायण दो समर्थ कवियों को आकर्षित किया। युद्धोत्तर विक्षोभ एवं जड़िमा को 'अंधायुग' में मूर्तिमान करने की चेष्टा हुई। वस्तुतः महाभारत पर आधारित प्रतीकों की बहुलता 'नयी कविता' में मिलेगी। हाँ तो मैं निरपेक्षता की बात कह रहा था। काव्य की पूरी अवधि से यह युग भी निरपेक्ष नहीं है। परन्तु जैसा कि मैं ऊपर संकेत कर चुका हूँ, पिछले कुछ बीते युगों की अपेक्षा आजका नयापन कुछ अधिक तेजी से, उछलता हुआ, फाँदता हुआ आकस्मिक वेग से आया है, जब कि पिछले युगों में नयापन स्वाभाविक ढंग से धीरे-धीरे आया था और वह प्रकृति का सहज अंश होता गया था। आज का नयापन पूरे समाज के जीवन का नयापन सहज रूप में नहीं बन पाया है, यद्यपि प्रभावित सब है। कोई अभिभूत हैं, कोई आतंकित, कुछ विस्मित है तो कुछ उसे मोल समझ रहे हैं। यही इस नयेपन की विशेषता है।

आधुनिक अँग्रेजी उपन्यास*

यदि मुझसे आधुनिक अंग्रेजी उपन्यास के बारे में संक्षेप में कहने के लिए कोई कहे तो मैं नीचे लिखे कुछ उद्धरणमात्र उसके सामने उपस्थित कर देना चाहूँगा।

"उपन्यास हमारे वर्तमान बूर्जुआ समाज का महाकाव्यात्मक कला-रूप है। इस समाज की तरुणाई में यह अपनी पूरी ऊँचाई तक पहुँच गया, और ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रति इस समाज का पतन इस पर भी प्रभाव डाल रहा है।" १ "इस शताब्दी के उपन्यासकारों का मुख्य कार्य यह पहचानना रहा है कि जिस दुनिया में वह चलता-फिरता है उसकी जड़ें भयानक रूप से खिसक रही हैं, और हम लोग उद्वेगनशील परिवर्तन में रह रहे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि कब और किस प्रकार का स्थायी ढाँचा सामने आवेगा? २ "यह भी हो सकता है कि इस समय हम उन परिस्थितियों की आकांक्षा भर कर सकें जो कि महान् साहित्य को जन्म देती हैं और यह भी हो सकता है कि वर्तमान और निकट भविष्य के लिये सर्वाधिक समीचीन वर्णनात्मक साहित्यरूप 'उपन्यास के अतिरिक्त' कुछ और हो।" ३ एक अन्य उद्धरण यहाँ मैं ओर्टेगा गैसेट का देना चाहूँगा कि "(उपन्यासकार) अब अधिक समय तक चरित्र, परिस्थिति अथवा कथावस्तु को विकसित नहीं कर सकता। फ्लाबेयर, हेनरी जेम्स, प्रूस्त, ज्वायस और वर्जीनिया वुल्फ ने उपन्यास को समाप्त कर दिया है। अब सब कुछ प्रारम्भ से पुनराविष्कृत करना पड़ेगा।" आइज़क्स उत्तर देते हुये कहता है, 'सौभाग्य से यह (पुनराविष्करण) कलाओं में सदा से होता आया है।' ४ तथा फ्रेजर का

१—राल्फ फाक्स : द नॉवेल एण्ड दि पीपुल

२—जी० एस० फ्रेजर : द मार्डन राइटर एण्ड हिज़ वर्ल्ड

३—वही

४—जे० आइज़क्स : ऐन असेसमेंट आफ ट्वेंटिएथ सेन्चुरी लिटरेचर

*इंगलैंड के उपन्यास से मेरा तात्पर्य ब्रिटेन के अंग्रेजी भाषा में लिखे गये उपन्यासों से है। अन्य लोगों के उपन्यासों का उल्लेख केवल तुलनात्मक दिखाने के लिए रहा है। इसलिये अमरीकी उपन्यासों पर इस समय कुछ नहीं लिखा गया है।

थन है कि "बाद को (ज्वायस आदि के बाद) किसी न किसी प्रकार के क स्पष्ट एवं प्रकट आकार-प्रकार और गठन को पुनः प्राप्त करने की चेष्टा खलाई पड़ती है (आइसग्रीन्, क्रिस्टोफर इशरवुड, रेक्स वार्नर आदि की तियों में), यहाँ तक कि जेम्स ज्वायस द्वारा उपन्यास के वातावरण को रे प्रदान की गयी आश्चर्यजनक तथा नवीन समृद्धि को खो देने की मित पर भी यह प्रयत्न हो रहा है।" मेरा अनुमान है कि उपर्युक्त छ उद्धरणों में आधुनिक उपन्यास की गतिविधि का सम्यक् आकलन हो ता है।

× × × ×

(१)

यों तो वर्जीनिया वूल्फ ने आधुनिक उपन्यास का प्रारम्भ सन् १९१० से माना है; पर उसकी प्राचीनता को १८९० तक ले जाया जा सकता । हेनरी जेम्स और एच० जी० वेल्स उस काल के लेखक हैं। उपन्यास के र हेनरी जेम्स का दृष्टिकोण कला रूप की सचेत साधना का रहा है और स का अपने विचारों के प्रचार के साधन रूप में।

वेल्स एक बड़ी मौलिक शक्ति लेकर आया था। यह शक्ति विज्ञान थी। १९वीं शती विज्ञान के वैभव की शती है। यह वह युग है जब ज्ञान के समस्त साहित्य फीका पड़ रहा था, तथा डार्विन और हक्सले मनुष्य जीव (न) सम्बन्धी विश्वासों की नींव हिला रहे थे। इसका तरुण वर्ग प्रभाव उन्हें प्राचीन परम्परागत मानदण्डों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये साहित कर रहा था। इस तरुण वर्ग का ही प्रतिनिधि वेल्स हुआ। लिए अन्य साहित्यकारों की अपेक्षा उसने उपन्यास के कला-पक्ष की उपेक्षा । शैली, दृष्टिकोण और विचारों के क्षेत्र में वह स्वतन्त्रचेता बन कर ल आया। उसका आदर्श महान् कलाकृतियों का सृजन नहीं, अपने रों को जनसाधारण तक पहुँचाना मात्र था।

हेनरी जेम्स बौद्धिक होते हुये भी 'वैचारिक' नहीं था। वह थीम कथा को अलग नहीं करता। जिस बात के विषय में वह कहना चाहता ो कहता नहीं बल्कि उपन्यास में दिखा देता है। वह प्रभावात्मक एवं ात्मक ढंग से जीवन को उपस्थित करता है। कला-साधना के रूप में ो निर्माण-प्रक्रिया का परिष्करण इस सीमा को स्पर्श करने का प्रयास सका कि उसमें एक भी वैराग्यक, वाक्य, पदसमुच्चय या शब्द अना- न रह जाय। उसके आदर्श कथाकार तुर्गनेव तथा फ्लाबेयर थे जिनकी

शैली एक प्रकार की असंपन्नता (Detachment) तथा एकान्तिकता (Aloofness) को ग्रहण किये रहती है। जेम्स मूलतः गठन की फिक रखने वाला व्यक्ति था। सूक्ष्म, संस्पर्शों, मूड के सुकुमार प्रभावों तथा दृश्यों परिस्थितियों के विविध रूपों और संस्कारों को अनावृत्त करने वाले लेखक के समक्ष खतरा यह रहता है कि कहीं वह आकार और गठन के बोध (Sense of Structure) को विस्मृत न कर दे, जैसा कि बहुधा प्रभाववादी चित्रकला के साथ हुआ है। हेनरी जेम्स में ऐसा नहीं है, पर आगे चल कर डॉरोथी रिचार्डसन, कैथरिन मैन्सफील्ड तथा वर्जीनिया वूल्फ (किन्हीं अंशों तक) के उपन्यासों में यह कमजोरी उभरी है। परन्तु इस परम्परा का अन्यतम उपन्यास जेम्स ज्वायस का 'यूलीसिज' इस गठनहीनता से बच गया है। उससे अधिक निपुणता के साथ निर्मित (Constructed) उपन्यास कम है। उसकी गठन एक साथ कलात्मक और नैतिक (?) स्तर पर हुई है। आधुनिक काल के अन्य अंग्रेजी उपन्यासों में किसी में भी जीवन का इतना घना दबाव, वातावरण का ऐसा गहरा विस्तार नहीं मिलता कि पाठक को अपना रास्ता बनाना पड़े। इसीलिये शायद कुछ लोगों ने इसे सब उपन्यासों को समाप्त कर देने वाला उपन्यास माना है।

इसकी तुलना मार्सेल प्रूस्त के 'एला रिचर्चे दु ताम् प्रादु' तथा हरमैन हेस के 'स्टीपेनवूल्फ' तथा एलियास कानेती के 'आँटो डु फे' से ही की जा सकती है। यह सारे उपन्यास बीसवीं शताब्दी की विडम्बना को अपनी रचना की गहनता के भीतर पिरोने वाली इस शताब्दी के प्रारम्भिक भाग के प्रतिनिधि यूरोपीय उपन्यास हैं।

× × × ×

(२)

महारानी विक्टोरिया के मृत्यु के पश्चात् इङ्गलैंड के इतिहास में सन्देह का एक दौर आया, यह पुरानी लिबरल परम्पराओं के नितान्त विरुद्ध था। वेल्स के साथ ही आस्कर वाइल्ड, सैमुअल बटलर आदि अन्य साहित्यकारों ने भी विक्टोरियन आदर्शों को गहरा धक्का दिया। परन्तु यह सारी नवीनताएँ एवं धक्के ऊपरी सतह के थे। किन्हीं ऐसी महत्वपूर्ण समस्याओं का अभाव सा था जो सम्पूर्ण राष्ट्र की मेधा को झकझोरतीं। यह एडवर्डियन युग एक ऐसी निष्क्रिय शान्ति का युग था जिसमें केवल सामान्य चिन्तन और सुविधा का रहन-सहन हो सकता था। सन् १९०० से १९१४ का समय अंग्रेजी जीवन का सामान्य, नार्मल शान्ति का काल है।

कि पश्चात् आज तक ब्रिटेन संक्रान्ति काल से पूरी तरह उबर नहीं पाया। काल वास्तव में मध्यवर्ग के पूर्ण अभ्युदय का था। मजदूर वर्ग अभी प्रमुख नहीं हो पाया था; प्राचीन कुलीन अभिजात वर्ग निर्बल हो रहा तथा अभिजात श्रेणियों में धन और बुद्धि का भी अभिजात्य स्वीकार लिया गया था। वेल्स जैसे साधारण घरों के लोग अभिजात वर्ग में मानित स्थान प्राप्त कर चुके थे। इस एडवर्डियन नार्मेलिटी के प्रमुख यासकार गाल्सवर्दी और आर्नल्ड बेनेट हैं। उनके उपन्यास इस अभ्युदित वर्ग के जीवन को प्रतिबिम्बित करते हैं; मध्य वर्गीय वृत्ति के कारण न उपन्यासों में चित्रित जीवन विक्टोरियन युग की अपेक्षा कहीं सकीर्ण क्योंकि मध्यवर्ग की यह सार्वत्रिक विशेषता रही है कि वह अपने से ऊँचे अपने से नीचे दोनों वर्गों की सापेक्षिकता में अपनी परिधियों एवं अपनी यों के प्रति सजग रहता है; इसीलिये सदैव अपनी सीमा के भीतर त रखने का प्रयास करता है। उपर्युक्त दोनों औपन्यासिकों में व्यापक ा की जटिलताओं की अपेक्षा समाज के एक महत्वपूर्ण हिस्से का नज- दृश्य प्राप्त होता है।

गाल्सवर्दी का संसार धर्म, कला, दर्शन, पांडित्य तथा विशेषत्व प्राप्त ति से किंचित पृथक् उच्च मध्यम वर्ग का था। 'द फोरसाइट सागा' ् के उपन्यासों में इस वर्ग को प्रारम्भ में व्यंग्यात्मक ढंग पर लिया ् पर बाद को सहिष्णु होते-होते गाल्सवर्दी ने इसे सहानुभूति दी है। बेनेट की अपेक्षा उसके उपन्यास 'उद्देश्यपूर्ण' इस अर्थ में अधिक हैं ामें एक प्रकार के नैतिक मानदण्डों को लादने का प्रयत्न सदैव किया । उसकी सहानुभूति कमजोर के साथ थी अवश्य, पर वर्गचेतना के र को उसका मस्तिष्क नहीं ग्रहण कर सका जिसमें कि सहानुभूति ं विशेष की ओर उन्मुख हो जाती है।

आर्नल्ड बेनेट गाल्सवर्दी का समकालीन, मध्यवर्ग का चित्रक और य इङ्गलैंड को अभिव्यक्ति देने वाला होने पर भी गाल्सवर्दी से काफी । वह निम्न मध्यवर्ग का उपन्यासकार है। उसके पास गाल्सवर्दी ई उच्च नैतिक मानदण्ड भी नहीं था और न अन्याय और कटुताओं कोई वास्तविक भय। पर उसकी प्रतिभा में नाना संबंधों को देखने निरपेक्ष (Detached) दृष्टि थी जिसको कि उपलब्ध करने का प्रयास गाल्सवर्दी ने किया था। उसकी तुलना किन्हीं अंशों तक फ्लावेयर की जा सकती है। फ्लावेयर के 'मदामबोवारी' की भाँति ही प्रान्तीय

जीवन का विस्तृत वर्णन हमे 'ओल्ड वाइव्स टेल' में वैसी ही निरपेक्ष दृष्टि के साथ मिलता है। वास्तव में 'प्रान्तीय जीवन' ही उसकी प्रतिभा का वास्तविक क्षोभ था जिसका दुरुपयोग उसने सस्ते रोमांस और साहित्यिक पत्रकारिता में किया; क्योंकि भौतिक सफलता को उसने अपना आदर्श बना लिया था। किसी दार्शनिक दृष्टि के अभाव के कारण उसकी यह पत्रकारिता सस्तेपन की ओर अधोमुखी रही। 'ओल्ड वाइव्स टेल' के अतिरिक्त 'क्लेहैंगर' तथा 'राइसीमैन स्टेप्स' उसकी प्रतिभा के निदर्शक अन्य उपन्यास हैं।

हेनरी जेम्स की कला साधना की परम्परा का इस काल का एक अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासकार जोसेफ कानराड है। अपनी 'मार्डनिटी' में यह व्यक्ति लगता है कि समय से कुछ पूर्व आ गया था वैसे ही जैसे कि हार्टक्रिन्स काव्य के क्षेत्र में समय से कुछ पूर्व जान पड़ता है। कानराड को प्रायः लोगों ने रोमान्टिकों में अन्तिम रोमाटिक माना है। वह जन्म से पोल था, अपने रीति ढंग (Manners) में वह फ्रान्स से प्रभावित था और अंग-रेजी प्रवृत्ति का उसने धीरे धीरे अर्जन कर लिया था। अपनी शैली की आल-रिक रचना के अलावा, कथा क्रम में समय के परिवर्तन (Shifting of time) तथा पूर्व दीप्ति (Flash back) आदि में वह आधुनिक कथा सबंधी प्रयोगों के प्रयोक्ताओं में है। 'द मिरर, आफ सी' में उसने अपने समुद्री जीवन के अनुभवों को प्रकाशित किया है, तथा 'लार्ड जिम एवं 'चान्स' जैसे उपन्यासों में कथा संबंधी नवीन प्रयोग।

ई० एम० फार्स्टर का 'ए पैसेज टू इण्डिया' महत्वपूर्ण उपन्यास है। फार्स्टर का यह उपन्यास यद्यपि सन् १९२४ मे प्रकाशित हुआ पर अपनी टेक्नीक और विषयवस्तु दोनों की दृष्टि से यह युद्धोत्तरकालीन उपन्यासों में न रखा जाना चाहिये। वास्तव में उसके अन्य उपन्यास एडवर्डियन युग के ही हैं। इस उपन्यास में भारत में शासन करने वाले अंगरेज वर्ग और शासित भारतीयों की मनोवृत्ति का चित्रण किया गया है। किपलिंग ने अंगरेज प्रभुओं के कृपाकांक्षी भारतीयों की दृष्टि से जहाँ इन साम्राज्यवादियों की उदारता को उदात्त कर देना चाहा था वहाँ फार्स्टर ने इन जातीय पूर्वग्रह से ऊपर उठकर भारतीयों की दृष्टि से वर्गीय उच्चता की हिपोक्रिसी के दम्भ तथा बनावटी सुषमा से रहित उपनिवेशवादी अंग्रेजों को चित्रित किया है। यद्यपि ब्रिटिश अधिकारियों के कार्य को वह नहीं दिखा सका, उसने सिद्धान्त पर नहीं, व्यक्तियों पर दोषारोपण किया है। [illegible], [illegible] तथा लारेन्स डरबल इस काल के अन्य प्रमुख उपन्यासकार हैं।

× × ×

(१)

हेनरी जेम्स ने 'द यंगर जेनरेशन' नामक एक निबन्ध सन् १९१४ में लिखा था। 'नये' की परिभाषा देते हुये उसका कहना है कि 'हमसे पूर्ववर्ती लोगों ने जितना जोर इन पर दिया था, साधारणतया उसकी अपेक्षा कहीं अधिक समीपी मनन की भूख, जीवन के लक्षणों तथा चेतना का तीखा बोध और मानवीय दृश्यों तथा परिस्थितियों के प्रति सावधानता।" वर्जीनिया वूल्फ ने १९२४ में एक विस्मयजनक बात कही; 'दिसम्बर १९१० में, या उसके आसपास मानव-चरित्र बदल गया।' १९१० के दिसम्बर में सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना 'ग्रैफ्टन गैलरी' में 'उत्तर प्रभाववादी' (Pest-Impressionist) चित्रों की प्रदर्शिनी का उद्‌घाटन थी; जिसमें वान गॉग, गॉगिन, मैनिसे, पिकासो और सेजाने की कलागत नवीनताओं को गहरी रुचि से और ताजगी के साथ देखा गया। बेनेट जैसा उपन्यासकार भी इससे प्रभावित हुआ था। उसने यह संदेह प्रकट किया था कि कोई तरुण लेखक रंगों के इस प्रयोग को शब्दों में भी उतार सकता है। कहना न होगा कि बेनेट की यह आशंका सत्य सिद्ध हुई।

वास्तव में बीसवीं शती के उपन्यासकार और चित्रकार की समस्यायें बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। इन कलाकारों के सम्मुख प्रश्न उपस्थित था कि अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष होनी चाहिये या प्रच्छन्न? वह प्रतिनिधिक और फोटोग्राफिक हो या प्रभावात्मक और अल्पात्मक? सत्य की अभिव्यक्ति और यथार्थ की उपलब्धि पर सभी सहमत थे; पर उनका ढंग और रीति क्या हो? कैथराइन मैन्सफील्ड ने कहा कि "सत्य का ऐसा कथन जैसा कि सिर्फ एक झूठा ही कह सकता है।" अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने भी कुछ इसी टोन में कहा कि "उसके अनुभवों से सत्य की उत्पत्ति ऐसी हो जिसका वर्णन किसी भी तथ्यात्मक बात से अधिक सत्य हो।" प्रूस्त से एक बार उसके एक मित्र ने गौरमों (Gaurmont) का यह कथन उद्धृत किया कि कोई उसी के बारे में अच्छा लिख सकता है जिसको उसने स्वयं नहीं किया। प्रूस्त उछल पड़ा यह कहते हुए कि यही तो मेरा सारा कृतित्व है। अस्तु इस काल के साहित्य पर चित्रकला के विविध प्रयोगों उत्तर प्रभाववाद, भविष्यतवाद, कोणवाद, अभिव्यंजनावाद और रूसी बैले इन सबका प्रभाव किसी न किसी रूप में पड़ा। परन्तु सबसे अधिक प्रभाव रूसी साहित्य विशेषरूप से दास्तावस्की तथा मनोविश्लेषण शास्त्र का पड़ा।

दास्तावस्की के अनुवाद अंगरेजी में सन् १९१२ से आने प्रारम्भ हुये।

उन्होंने सम्पूर्ण साहित्य को झकझोर दिया। उसके साथ साहित्य चेतना की सतह के नीचे की अगाध गहराइयों में उतर गया। ऐसा लगा कि मनुष्य का ज्ञान-स्तर पूरी तौर से चित्रित किया जा चुका है और अब अज्ञात के द्वार उन्मुक्त करने की आवश्यकता है। वास्तव में इस प्रवृत्ति के पीछे सामाजिक जीवन की वह अवस्था थी जिसमें जीवन की जटिल परिस्थितियों के कारण व्यक्ति अपने को बड़े परिप्रेक्ष्य में रखकर देखने मे असमर्थ हो गया। वह धीरे-धीरे केन्द्र की ओर सिमटता गया। ऊपर संकेत किया गया है कि मध्यम वर्ग के उपन्यासकार अपेक्षया संकीर्ण का चित्रण करते हैं; विशृङ्खलित होता होता हुआ मध्यमवर्ग (युद्ध के बाद) आगे और संकीर्ण हो व्यक्ति के अहं में असामाजिकता का शिकार होकर केन्द्रित होता गया। ये उपन्यासकार दास्ताएव्स्की की आंतरिक गहनता को तो प्राप्त करना चाहते हैं पर मानवीय दिव्यता पर उसका जो अखंड विश्वास है, मानवीय संबंधों के सूक्ष्म सूत्रों की जो चेतना है, उसे ये लोग ग्रहण नहीं कर पाते। करें भी क्या, अनास्था वैसा विश्वास रहने ही कहाँ देती है ?

दास्ताएव्स्की के साथ ही साथ इस अवचेतन को बढ़ावा देने वाला फ्रायड आया। अगरेजी भाषा मे पहले पहल सन् १९१० में 'अमेरिकन जरनल आफ साइकालांजी' मे उसकी स्वप्न-सम्बन्धी धारणाओं का विवरण प्रकाशित हुआ और सन् १३ मे उसकी 'इण्टरप्रेटेशन आफ ड्रीम्स' का अंगरेजी अनुवाद निकला। 'मनोविश्लेषण युद्ध के लिए समय से आया और दास्ताएव्स्की के प्रभाव मे योग दिया।... ...बहुत से लेखकों ने फ्राइड को खाइयों में पढ़ा।' नृतत्त्वशास्त्र तथा फ्रेजर के 'गोल्डेन बाउ' ने धर्म की उत्पत्ति और प्रकृति के बारे मे पहले ही शका-सन्देह उत्पन्न कर दिये थे अब मनुष्य के नैतिक और आचार सम्बन्धी मूल्यों पर फ्रायडीय सिद्धान्तों ने और गहरे आघात किये। उन दिनों फ्रायड और उसके सिद्धान्त सामान्य चर्चा के विषय बने हुये थे। सन् १९१३ में डी० एच० लारेन्स ने 'सन्स एण्ड लवर्स' फ्रायडीय उपन्यास बिना फ्रायड को पढ़े ही लिखा था क्योंकि फ्रायड वातावरण मे पूरी तरह व्याप्त था। सिनक्लेयर और रेवेका वेस्ट के 'द थ्री सिस्टर्स' और 'रिटर्न आफ द सोल्जर' मे भी उसके सिद्धांतों का पुट है। १९२० मे जे० डी० बेरेसफोर्ड ने कहा था, "सभी कालो में प्रसिद्ध वैज्ञानिकों द्वारा उपस्थित किये गये मानव प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्तों में फ्रायड द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त सबसे अधिक आकर्षक और कथा के उद्देश्यों के लिए ग्रहण-योग्य हैं।" धीरे-धीरे मनोविश्लेषण शास्त्र लेखक-ज्ञान का एक आवश्यक अंग बनता गया।

सन् १९१९ में वर्जीनिया वूल्फ ने एक महत्वपूर्ण निबन्ध "फ
फिक्शन" लिखा था। इसमें वेल्स, बेनेट और गाल्सवर्दी की कटु आलो
करते हुए उसने अपना मन्तव्य प्रकट किया था कि ये लेखक 'वस्तुवाद
और वस्तुवादी से उसका अभिप्राय है कि ये लोग अमहत्व की बातें
लिखते हैं। इसी लेख में वूल्फ ने जीवन की वह प्रसिद्ध परिभाषा दी है जि
अंकन करने का प्रयास इस खेवे के लेखकों ने किया है। उसके अनु
"जीवन व्यवस्थित रूप से सजाई गई दीपमाला नहीं है, वह ऐसा चमक
प्रभामण्डल है जो हमारी चेतना को आद्यंत अपने झीने और अर्धपार
आवरण से आच्छादित किए रहता है।" वह प्रश्न करती है कि क्या
न्यासकारों का यह कर्तव्य नहीं है कि अपनी अनिर्दिष्ट और जटिलग
बावजूद इस स्वच्छन्द और परिवर्तनशील जीवनोच्छ्वास को बिना
विजातीय मिश्रण के प्रेषणीय बनायें। उसके अनुसार 'जीवन, आत्मा,
या यथार्थ' जो मूलवस्तु है, वह आगे बढ़ चुकी है या बढ़ रही है और
हमारे द्वारा प्रस्तुत किए जाने वाले बेडौल लबादों को ओढ़ नहीं पाती।
साधारण दिन एक साधारण मस्तिष्क की परीक्षा कीजिये—हमारा मस्ति
असंख्य 'प्रभाव' ग्रहण करता है। क्षुद्र, असंगत, संक्रमणशील और इस्पा
नुकीलेपन से गढ़े हुए 'प्रभाव' सभी ओर से अणुओं की अविराम वर्षा
आते हैं और महत्व का क्षण प्राचीन से कुछ भिन्न पड़ता है। इन स
एक महत्वपूर्ण परिणाम है कि यदि लेखक एक स्वतन्त्र व्यक्ति है, गु
नहीं; उसे 'जो अवश्य लिखना चाहिए' के स्थान पर यदि वह अपनी
का लिखता है, अगर वह सिर्फ रूढ़ि नहीं बल्कि अपनी अनुभूतियों पर अ
कृति को आधारित कर सकता है तो वहां स्वीकृत शैली पर कथानक, सुख
दुखान्त कथा, प्रेम की दिलचस्पी या अन्तिम परिणति (Catastroph
नहीं होगी। हमारी चेतना पर गिरने वाले इन अणुओं के पैटर्न—चा
कितने असम्बद्ध या अर्थहीन क्यों न जान पड़ें—को खोजने वाले
ज्वायस आदि को वह आध्यात्मिक (Spiritual) कहती है तथा
आदि को वस्तुवादी।

इस प्रकार के उपन्यासों को 'चेतनाप्रवाह' वाले उपन्यास कहा
है। 'चेतना-प्रवाह' मनोविज्ञान का शब्द है जिसका प्रयोग आलोचना के
में कुमारी मे सिन्क्लेयर ने डोरोथी, रिचार्डसन के उपन्यास 'प्वाइन्टेड
(Pointed Roofs) की चर्चा, 'द इगोइस्ट' के अप्रैल १९१८ के
में, करते समय किया था। यह 'चेतनाप्रवाह' पद्धति वास्तव में चित्र
के 'इम्प्रेशनिज्म' की पर्याय है। ऊपर विस्तार से दिए गए वर्जीनिया वूल

मन्तव्य में प्रभाववादी चित्रकला के समीक्षक आर० ए० एम० स्टीवेन्सन का स्पष्ट प्रभाव है।

जैसा कि यूल्क के मन्तव्य से प्रकट है—आज का उपन्यासकार अपनी *अनुभूतियों पर आधारित है।* उसके उपन्यासकार इसी कारण जीवनीप्रधान होते जा रहे हैं। आधुनिक कथा साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि उपन्यासों में उपन्यासकार की दखल बढ़ती जा रही है। फ्लाबेयर, तुर्गनेव, दास्ताएव्स्की, हेनरी जेम्स आदि ने जिस निरपेक्ष, असंलग्न (Detached) शैली की साधना की थी वह समाप्त हो गयी। उपन्यासकार अब किसी भी समय उपन्यास के भीतर आ सकता है।

जेम्स ज्वायस का 'यूलीसिज्' इस नये प्रयोगवाद, नवीन दुख तथा मानव समाज के प्रति नवयथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रकट करने वाला और नये ज्ञान के आधार पर चलने वाला प्रमुख उपन्यास है। इसमें केवल एक व्यक्ति की, चौबीस घंटों की कथा है। चूंकि इस प्रकार के उपन्यासों में प्रत्येक क्षण मस्तिष्क पर पड़ने वाले असंख्य प्रभावाणुओं का रेकर्ड उपन्यासकार को देना होता है। अतः उसमें आन्तरिक रचना (Texture) पर अधिक बल देने की आवश्यकता पड़ती है। 'टेक्सचर' का जितना घनत्व और सान्द्रता इन 'चेतना-प्रवाही' उपन्यासों में मिल सकता है उतना अन्यत्र नहीं। यहीं पर एक बात ध्यान देने की है कि इस क्षेत्र के अन्य उपन्यासकारों ने जहाँ विषयीगत (Subjective) ढंग के प्रयोग के द्वारा यह प्रगाढ़ता लाने की चेष्टा की है वहीं जेम्स ज्वायस ने इस ढंग को वस्तुगत साँचे में पिरोकर उपस्थित किया है। ल्योपोल्ड ब्लूम या स्टीफन डैडालस के आत्मकथन, वह बहुधा बाह्य संसार के वर्णनों के उल्लेख द्वारा बाधित कर देता है। विशुद्ध 'चेतना-प्रवाह' *का उदाहरण अन्त में श्रीमती ब्लूम का हृदयोद्गार है।* 'विषयी और विषय' के इस समन्वय के कारण यूलीसिज् मे गठन और आंतरिक रचना (Texture and Structure) का अपूर्व मेल हो सका है। परन्तु बाद की *अन्य उपन्यासकार—जैसा कि ऊपर कहीं मैं उल्लेख कर चुका हूँ*—इस संतुलन को नहीं निभा सके। सम्भवतः इसी कारण ह्यू वालपोल को कहना पड़ा था कि 'यह विधि बहुत सरल है—चालाकी, आराम और साहस से भरी हुई।' परन्तु ज्वायस के साथ ऐसा नहीं है। उसने अपने उपन्यास को कठिन साधना और अनुशासन (Discipline) से होकर गुज़रने दिया है। उसके पात्र अपनी विचित्रताओं के कारण व्यक्ति-चरित्र भी हैं; पर उनका एक प्रतीक-मूल्य भी है। उसके पात्रों के साथ हम एकाकार नहीं होते बल्कि,

उन्हें एक बड़े परिप्रेक्ष्य में रख कर देखते हैं। यही उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

१९२० और बाद के कथा साहित्य पर फ्रेंच उपन्यासकार मार्सेल प्रूस्त का बड़ा प्रभाव पड़ा है। उसकी थीम को फ्रांसीसी में 'रिकुइलमेण्ट' कहा गया है, इसके अर्थ हैं 'किसी के जीवन' के सम्पूर्ण सूत्रों को पुनः एकत्र करना। जीवन प्रभावशील है, पर कोई व्यक्ति अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं और बातों को अपने मस्तिष्क में इकट्ठा कर सकता है। परन्तु उन बातों और क्षणों को उसी बीते हुये अर्थ में पुनः ग्रहण कर सजीवित करना तथा उस बीते हुए को वर्तमान परिप्रेक्ष में पुनः ग्रहण कर सजीव करना कठिन कार्य है। पर इसी ग्रहण और सजीव करने की प्रक्रिया में प्रूस्त की सफलता है। उसके लम्बे वाक्य इस गति के साथ प्रतिक्रियाएँ बनाते चलते हैं। नाना प्रकार के वैयक्तिक अनुभवों और प्रभावों को वह सामान्यीकृत करके दार्शनिक परिणति देने का प्रयत्न करता है। (अज्ञेय के पुष्ट गद्य तथा सूक्ष्म सौंदर्य संवेदना से युक्त प्रकृति चित्रों पर प्रूस्त का प्रभाव देखा जा सकता है।) जर्मनी का हरमैन हेस भी बहुत कुछ इसी श्रेणी का समकालीन उपन्यासकार है।

प्रूस्त और ज्वायस का सम्मिलित प्रभाव लेकर आने वाली वर्जीनिया वूल्फ में क्षण-क्षण तक की जागृत संवेदना का जटिल चित्रण तथा सकुल कथानक एवं सूक्ष्म स्थितियां प्राप्त होती हैं। उसके पात्र दूसरे पात्रों से उतना नहीं उलझते जितना कि आसपास बिखरी अथवा गुजरती हुई वस्तुओं और क्रियाओं पर ध्यान देते हैं। उसका आन्तरिक व्यक्तित्व इन बाह्य संवेदनाओं के माध्यम से अपना द्वन्द्व प्रकट करता है। ज्वायस और प्रूस्त के अतिरिक्त उस पर जार्ज मूर तथा अपने पिता की दृढ़ बौद्धिकता का भी किंचित् प्रभाव है। ज्वाइस की शब्द बहुलता और प्रूस्त की छोटी घटनाओं को अतिरंजना द्वारा महान् बनाने के प्रयत्न, इन दोनों खड्डों से बचकर उसके यथार्थ को संगीतात्मक बनाने का प्रयास किया है। उसकी शैली संगीत की लय तथा आन्तरिक रचना (Texture) के अनुरूप अपने को ढालती गयी है। 'मिसेज डैलोवे' उसका श्रेष्ठ उपन्यास है जिसमें अपने अन्य उपन्यासों की अपेक्षा उसने बाह्य संसार एवं अपनी कल्पना के बीच किसी हद तक संतुलन स्थापित किया है।

डी० एच० लारेन्स की प्रतिभा अहं केन्द्रित तथा 'यौनकुण्ठाओं से ग्रसित है। उसमें एक प्रकार की आदिम भावना (Primitivism) सर्वदा विद्यमान रही। अपनी शक्ति और प्रतिभा के द्वारा किसी हद तक उसने

प्रतिभा का दुरुपयोग भी किया। द्रष्टा (*Prophet*) बनने के फेर में उसकी प्रतिभा ने काफी चक्कर खाया है। अपने बारे में हेमन्गे को एक पत्र लिखते हुए उसने कहा था, 'तुमने अपने आपको क्या बना लिया है, इस बात में नहीं, बल्कि तुम किस धातु के बने हो, इसमें उसकी अधिक दिलचस्पी है।' 'सन्स एण्ड लवर्स' तथा 'लेडी चैटरलीज़ लवर' में उसने लैंगिक भावनाओं और शरीर-धर्मों को गौरव मण्डित करके चित्रित करना चाहा है।

वूल्फ यदि मृदुल और सूक्ष्म संवेदनाओं की चित्रक थीं और लारेन्स मनोवेगों एवं भावनाओं का तो आल्डस हक्सले बुद्धि के विविध स्तरों का उपन्यासकार है। अपने व्यंग्यात्मक पुट के बावजूद वह कहीं-कहीं नीरस और उबा देने वाला उपदेशक बन जाता है। सरसता की दृष्टि से उसके अपेक्षाकृत अपरिपक्व प्रारम्भिक उपन्यास 'ऐन्टिक हे' आदि अधिक रुचिकर है। दार्शनिक वाद-विवादों को तो वह किसी हद तक निभा ले जाता है परन्तु सामान्य अनुभूतियों एवं आवेगों को चित्रित करने में वह अपेक्षाकृत असफल हुआ है। इस अविश्वसनीय संसार में अपनी बौद्धिकता के बल पर वह कुछ विश्वास प्राप्त करना चाहता है। परन्तु अनास्था और सन्देह उसकी बौद्धिकता (आज के सारे विश्व की बौद्धिकता के भी) के मूल तत्व होने के कारण किसी पर भी ठीक से विश्वास नहीं कर पाता। तर्क की कसौटी पर उसका विश्वास खरा उतरना चाहिये और जब यह सम्भव नहीं हो पाता या सम्भव नहीं हो पाया तो वह एक प्रकार के रहस्यवाद की ओर उन्मुख हुआ है।

ज्वायस का मित्र तथा समकालीन पर्सी विढम लेविस -नितान्त भिन्न कोटि का उपन्यासकार है। सन् १९२० के आसपास ही उसका महत्वपूर्ण उपन्यास 'टार' (Tarr) प्रकाशित हुआ था। 'यूलीसिज़' आदि उपन्यासों में जहाँ पात्रों को अन्तर से देखा गया है वहां लेविस के उपन्यासों में उसे बाहर से देखने का प्रयास हुआ है। वह चरित्रों की अनुभूतियों और संवेदनाओं की अपेक्षा उनकी रूप-रेखा, बाह्य आकार तथा व्यवहार में अधिक रुचि लेता है। परन्तु लेविस के ऊपर सबसे बड़ा आक्षेप सहानुभूति-तत्व का अभाव है। वह मनुष्य को मिथ्यावादी, बेहूदा तथा हास्यास्पद मानता है। उसके मन में एक सतत अवज्ञा का भाव विद्यमान रहता है। मनुष्य करुणा और दया का नहीं; अवज्ञा, घृणा और व्यंग्य का पात्र है। 'टार' का प्रमुख चरित्र क्रेसलर एक स्नायु-रोगी है, वह नायक की मिस्ट्रेस के साथ बलात्कार करता है, अधिकृत रूप से द्वन्द्व-प्रथा उठ जाने के बाद भी अपने एक विरोधी

को मार डालता है और अन्ततः स्वयं को मार लेता है। केसलर लेविस के लिये एक मूर्ख और हिंसक प्राणीमात्र है, जिसके ऊपर केवल हँसा जा सकता है। अथवा एक आवेगहीन व्यंग मात्र किया जा सकता है वास्तव में व्यंग का यह एक नया दृष्टिकोण था—जिसमें कि व्यंग किसी सामाजिक बुराई, वर्ग, मत या विश्वास के विरुद्ध नहीं बल्कि पूरे मानवीय अस्तित्व के विरुद्ध प्रयुक्त हुआ है। मानव सुलभ सहानुभूति के इस अभाव ने लेविस को जनप्रिय नहीं होने दिया। वास्तव में प्रच्छन्न भाव से वह फासिस्टी शक्तियों का प्रवक्ता बन बैठा था।

× × ×

(४)

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है—भौतिक विज्ञान, नृतत्त्वशास्त्र तथा मनो-विश्लेषण-शास्त्र आदि ज्ञान की नूतन विकासमान शाखाओं ने समाज के प्रचलित सारे नियमों, रूढ़ियों, नैतिक और धार्मिक मान्यताओं के आगे एक प्रश्नचिन्ह लगा दिया था। विज्ञान के 'नये देवता' पर विश्वास जम ही रहा था कि युद्ध की विभीषिका ने उसके प्रति भी विरक्ति की भावना जगाई। युद्ध ने सभी वर्गों, सेक्स एवं स्टेटस पर अपना प्रभाव डाला। उसने अवचेतन में स्थित गहरे सामाजिक विश्वासों को हिला दिया। सन् १८१५ के बाद ब्रिटिश राष्ट्र किसी ऐसे बड़े सघर्ष में प्रवृत्त नहीं हुआ था जिसमें उसका सारा अस्तित्व दाँव पर लग जाय। अतः इतने दिनों की शान्ति के बाद इस भयानक संघर्ष ने सारे सामाजिक जीवन को भयकर उत्तेजना देकर बिखेर दिया।

बाह्य जीवन में कोई ऐसी निश्चित और स्थायी स्थिति नहीं थी, जिसके सहारे व्यक्ति खड़ा हो सके। युद्ध के बाद भी सारे यूरोप में शक्ति के द्वन्द्व चालू रहे। ऐसा सामाजिक वातावरण व्यक्ति को रक्षा करने में असमर्थ रहा; और वह आत्मकेन्द्रित होता गया। इसी मानव-विडम्बना को इलियट अपनी 'वेस्टलैण्ड' कविता में अभिव्यक्त करता है और सामाजिक जीवन का यही खोखलापन, हमें ज्वायस, प्रूस्त, डोरोथी रिचार्डसन, फ्रेंज काफ्का, हरमैन-ब्रोख, डॉबलिन, हरमैन हेस, मान्टेर्लां, एलियास कानेती आदि के उपन्यासों में प्राप्त होता है। इसी प्रवृत्ति का अनेकरूपता डिएच लारेन्स, वूल्फ, लेविस, ग्राहम ग्रीन, रेक्सवार्नर, लुई फर्डिनैण्ड सेलाइन, थामस मान, आन्द्रे मैलरा आदि में प्राप्त होता है। किसी में एक रोमांचक निराशा है तो कुछ (यथा ग्राहम ग्रीन, हक्सले, मारियाक, हरमैन ब्रोख आदि पूँजीवादी सभ्यता के विघटनशील मूल्यों में कोई निरपेक्ष स्वतः उद्भूत

अथवा रहस्यवादी मर्यादा ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं ; तथा कुछ लोग (अलेक् ब्राउन, इशरवुड, हेनरी बारबुसे, जान सोमरफील्ड, यल० जी० गिबन आदि) मार्क्सवाद के निकट इन मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिये जाते हैं। अस्तु ऊपर के विवरण से यह प्रकट है कि सारे यूरोप पर यह भयावह स्थिति छायी हुई थी और विविध देशों के उपन्यासकार सारे विरोधों के बावजूद समान-धर्मा से दृष्टिगोचर होते हैं।

जर्मनी के उपन्यासकार डाबलिन के 'अलेक्जेण्डर प्लाट्ज' का एक पात्र कहता है— मनुष्य, सूअरों, गायों, बैलों और बछड़ों की भाँति काटे गये हैं। रक्त बहा है और काली मोटी परतों में जम गया है; और अधिक खून निश्चित रूप से बहना है; अकथ्य पीड़ा हम सबकी प्रतीक्षा में है।" जर्मनी के ही अन्य लेखक हरमैन ब्राक का 'स्लीपवाकर्स' और टामसमान का 'बुडेनब्रुक्स' भी इसी अव्यवस्था, विशृंखलता, विघटन, हिस्टीरिया तथा वैचारिक दिग्भ्रम को उपस्थित करते हैं। फ्रांस में कुछ आगे चलकर आन्द्रे मैलरा इस भयावह स्थिति को अपने 'द रायल वे' उपन्यास के नायक के मुख से इस प्रकार कहलवाता है, 'मेरी ही भांति तुम भी जानते हो कि जीवन अर्थहीन है। एकान्त में मनुष्य अपने लक्ष्य के बारे में सोचने के लिए विवश है। जीवन की निरर्थकता के प्रत्यक्ष प्रमाण के सदृश मृत्यु सतत विद्यमान है।'

इस विघटन और उद्विग्नता को [जिसे कि आडेन ने उद्विग्नता का युग (Age of Anxiety) कहा है] इस काल के लेखकों ने अनेक रूपक-कथाओं और अन्योक्तियों के सहारे व्यक्त करना चाहा है। वास्तव में आधुनिक उपन्यास ने कविता के तत्वों को अपनाया है। वुल्फ आदि ने मनोवेगों, चित्तवृत्तियों, भावनाओं को उनके काव्यात्मक क्षणों में पकड़ने का प्रयास किया है तथा रूपविधान एवं गठन आदि के क्षेत्र में भी अनेक उपन्यासकारों ने काव्य की पद्धति अपनाई है—अपनी बात को अध्यारोपित करके कहने की, रूपकों और प्रतीकों के व्यवहार की पद्धति काव्य से ही ग्रहण की गयी है। जो प्रतीक इनमें बार-बार आते हैं वे मलिनता, अशुचि, सड़ांध-पूर्णता तथा सड़ाँध के होते हैं। बहुधा इनकी परीक्षा करते समय समीक्षक कहता है कि अपने मस्तिष्क की सड़ाँध और गन्दगी को ही सामाजिक जीवन पर लादने का प्रयास इन लेखकों ने किया है। परन्तु इस तर्क को उलटकर यों भी कहा जा सकता है कि सामाजिक वातावरण ने ही इन लेखकों के मस्तिष्क को ऐसा बना दिया है। वस्तुतः यह प्रवृत्ति, वर्तमान मानव की विघटनशील स्थिति की भी द्योतक हो सकती है तथा मनोवैज्ञानिक अनुभूतियाँ

की भी। लारेन्स के उपन्यासों में जैसा कि कभी-कभी हुआ है, यह सामाजिक कड़ माहट की भी प्रतीक बन सकती है।

बीसवीं शती की ध्वंसमान यूरोपीय सभ्यता वास्तव में वर्द्धमान विराट् शहरों की सभ्यता है; सम्भवतः इसीलिये आधुनिक काल के कतिपय महत्वपूर्ण उपन्यासों में अपनी समस्त विविधता और समृद्धि के साथ नगर, मानव-बिम्ब के रूप में प्रयुक्त हुआ है। उवायस में यह डबलिन नगर है तथा एलियास कानेती की श्रेष्ठ कृति 'आटो ड फे' में वियना तथा डाबलिन के 'अलेक्जेण्डर प्लाट्ज' में बर्लिन शहर है। डास पैसास के 'मैनहैटनट्रांसफर' में यह न्यूयार्क है। इन उपन्यासों में चित्रित नगर-विडम्बना का रूप लेविस मम्फोर्ड की प्रसिद्ध पुस्तक 'द कल्चर आफ सिटीज' के आधुनिक विशाल नगरों से एकदम मिलता जुलता है। समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण जिस बिन्दु पर पहुँचता है मानो वहीं पर कलाकार की संवेदना प्रच्छन्न भाव से पहुँच जाती है। शहरी जीवन के त्रासदायक, नारकीय दृश्य ग्राहमग्रीन, अलेक्स काम्फर्ट, हेनरी ग्रीन आदि के उपन्यासों, आधुनिक रोमांचक फिल्मों, सार्त्र की कृतियों एवं इलियट आदि की कविताओं में प्राप्त होते हैं। शक्ति की बुराइयों एवं बुराइयों की शक्ति पर लिखी गई हाल की ही करुण-कथा अल्बर्ट की 'द प्लेग' है। यहाँ भी प्रतीक एक प्लेग से पीड़ित नगर ही है। इन प्रतीकात्मक कथाओं में सबसे अधिक उल्लेखनीय नाम जर्मनी के उपन्यासकार फ्रैंज काफ्का है। आधुनिक प्रतीकात्मक उपन्यासों में से बहुतों को प्रेरणा और आकार 'काफ्का' से मिला है। एक समीक्षक के अनुसार तो बीसवीं शताब्दी के अंगरेजी कथा-साहित्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता काफ्का का बढ़ता हुआ प्रभाव है। उसके 'द ट्रायल' और 'द कैसिल' के नायक समकालीन मनुष्य के जीवन्त प्रतीक हैं। सन् १९२४ के पूर्व लिखे गये इन उपन्यासों का सत्य आज उससे कहीं अधिक जीवित है। 'कुत्ते की भाँति बिना कुछ गलती किये ही, वह एक सुहावनी सुबह को बन्दी बना लिया गया,'—काफ्का के 'द ट्रायल' के नायक का यह अन्तिम कथन वर्तमान तानाशाही (चाहे वह कम्युनिस्ट हो या पूँजीवादी) की विभीषिकाओं को उपस्थित करता है। उसने अपनी गहरी अनुभूतियों को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वे प्रत्येक की समस्या बन जाती है। गठन और रचना (Structure and Texture) का अद्भुत समन्वय उसके उपन्यासों में मिलता है।

साहित्यकार अपने युग की समस्याओं से उलझता है; उन्हें नाना प्रकार के रूपकों और प्रतीकों के माध्यम से वह उपस्थित करता है। बहुधा एक ही प्रतीक विविध व्यवस्थाओं के भीतर भिन्न भिन्न अर्थ व्यंजित करता

है। राल्फ फाक्स ने इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण 'ओडेसी' और 'राबिन्सन क्रूसो' की यात्राओं का सामाजिक आशय स्पष्ट करते हुये दिया है। उसके अनुसार क्रूसो वह नया मनुष्य है जो अपने शत्रु 'प्रकृति' पर विजय प्राप्त करने चला है। इसी सम्बन्ध में बीसवीं शताब्दी के एक उपन्यासकार पैट्रिक व्हेयर का यह कथन दृष्टव्य है—मनुष्य का जीवन रेल पर की गयी यात्रा की भाँति है।' 'ओडेसी' में जिसस का कहना है कि मनुष्य अपने 'पापों' के कारण संकट बुलाता है, क्रूसो अपने संकटों के मूल कारण 'प्रकृति' पर विजय करने का खतरा उठाता है और पैट्रिक व्हेयर पाप या प्रकृति के स्थान पर 'सामाजिक व्यवस्था' को स्थापित करता है, क्लास सिस्टम को। वह शासक वर्ग को प्रथम श्रेणी में तथा श्रमजीवियों को थर्ड क्लास में स्थान देता है। स्पष्ट रूप से यह एक रूपक है जिसमें ट्रेन उद्देश्यहीन गति से एक वृत्ताकार पथ पर चक्कर लगाया करती है, और इस प्रकार मनुष्य जीवन की निरुद्देश्यता को भी व्यंजित करती है। इसी प्रकार शक्ति के द्वन्द्वों से सम्बन्धित रेक्सवार्नर की रूपक-कथाएँ हैं। 'द एअरोड्रोम' और 'द प्रोफेसर' उसके ऐसे ही प्रसिद्ध उपन्यास हैं। आर्वेल का 'ऐनीमल फार्म' भी राजनैतिक प्रतीक ही है।

प्रथम महायुद्ध से प्रारम्भ होने वाला यह युग केवल उद्विग्नताओं का ही युग नहीं है; यह बमों, गैसों और भीषण विस्फोटों का युग भी रहा है। उद्विग्नता, का साहित्यिक रूप ऊपर उल्लिखित रूपक-कथाओं मे संकेतित किया जा चुका है, इस विस्फोट-प्रधानता का, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति न्यूरोटिक है, प्रधान लक्षण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने को किसी न किसी दुरभिसन्धि और षड़यन्त्र द्वारा घिरा महसूस करता है। इस भावना को अभिव्यक्त करने वाले कथारूप 'रोमांचक' उपन्यास है जिनमें भयावह कथाएँ चित्रित की गयी हैं। उस 'भय' के भी अनेक रूप हैं। इसका राजनैतिक रूप जार्ज आरवेल के '१९८४' और आर्थर कोएस्लर के 'डार्कनेस एट नून' में, धार्मिक रूप ग्राहम ग्रीन के 'ब्राइटनराक' तथा 'द पावर एण्ड द ग्लोरी' में वैज्ञानिक रूप हक्सले के 'ऐप एण्ड एसेन्स', तथा 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में मिलता है और फिर जनप्रियता में इन सबसे ऊपर यौन सम्बन्धी हारर्स में जे० एस० चेज़ की 'नो आर्किड्स फार मिस ब्लाण्डिश' आदि कृतियाँ आती हैं।

× × × ×

(५)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'चेतना-प्रवाह' वाले उपन्यासों की

बहुधा सामाजिक समस्याओं से भागने की प्रवृत्ति से युक्त रहते हैं।
के कुछ समीक्षकों ने प्रीस्टले और सोमरसेट मॉम को भी इसी
आसपास रखना चाहा है। परन्तु सब मिलाकर यह निस्संकोच
सकता है कि अंगरेजी उपन्यास दिग्भ्रम में पड़ गया है। आज के उपन्य
का क्षेत्र विशाल हो गया है, उसकी रचना और गठन की दिशा
परिधियाँ टूट गयी हैं, परन्तु इस असीम क्षेत्र में सामाजिक समस्या
यथार्थ की गहरी पकड़ का जो पथ उपन्यासकार का उद्दिष्ट होना
वही छूट गया है। प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री इलाचन्द्र जोशी के साथ
को मत होता है कि, 'पाश्चात्य उपन्यास साहित्य से किसी नये विका
नयी शक्ति और नयी स्फूर्ति दे सकने वाले किसी नये मोड़ की आशा
काफी समय तक नहीं कर सकते।......किसी भी पाश्चात्य देश
महान् उपन्यास की सृष्टि नहीं हो पायी है जो आज के विचित्र विरोधा
विषमताओं और सामूहिक विकृतियों से पूर्ण युग में भी मानवीय चेत
टेढ़े-मेढ़े रास्तों से अलग हटाकर, बीच के सहज विकास-पथ की ओर
सिरे से नियोजित करके, जीवन के प्रति एक नई और स्वस्थ आस्था
करने में सहायक सिद्ध हो सके।* ध्वस, आध्यात्मिक निर्धनता, स

विशेषीकरण, असहिष्णुता और सांस्कृतिक अंतराल

अपने एक निबन्ध (लेखन : एक व्यावसायिक समस्या) में मैंने लेखन की व्यावसायिक समस्या का प्रश्न उठाया था। उसमें मैंने यह कहना चाहा था कि लेखन में व्यवसाय की क्षमता विद्यमान होने पर भी वर्तमान पूँजीवादी व्यवसाय की पद्धति उसके स्वरूप पर बुरा प्रभाव डालने वाली है। अचानक ही एक दिन एक प्रसिद्ध कवि मित्र (जो कवि सम्मेलनों में यथेष्ट ख्याति अर्जित कर चुके हैं) ने बताया कि फिल्मों में गीत लिखने के उन्होंने कुछ कण्ट्राक्ट लिए हैं, पर मन में डर रहे हैं कि कहीं उनका कविरूप ही इस व्यवसाय के द्वारा नष्ट न हो जाय। उनका दूसरा भय कुछ इस भाँति का भी था कि कवि-सम्मेलनों ने ही उनकी साहित्यिक प्रतिष्ठा को अब तक खासी हानि पहुँचायी है और अब फिल्मों के कारण वे एकदम ही अपदस्थ न कर दिए जाएँ ! पहले भय का यथेष्ट

अस्तु, इस प्रवृत्ति का एक दुखद परिणाम यह हुआ है कि इन माध्यमों का प्रयोग हल्की कोटि के लोगों द्वारा होने लगा है। ये माध्यम यद्यपि जनता के हैं, सर्वसाधारण के हैं, पर कलात्मक होने के कारण निजी संवेदना की भी अभिव्यक्ति करते हैं। ये माध्यम हमारी सभ्यता के कल्पनाशील एवं बौद्धिक स्तर को भी व्यक्त करते हैं। अतः समस्या यह है कि कैसे हम निजी-वैयक्तिक गुणों एवं संवेदनाओं वाली परम्परा के दाय को सुरक्षित रखते हुए भी इन माध्यमों को ह्रासशील होने से बचाएँ, अश्लीलताओं एवं मनुष्य को कमजोर बनाने वाले तत्वों से इनकी रक्षा करें। यह समस्या आसान नहीं है। यह देखकर कभी-कभी आश्चर्य होता है कि हिन्दी में एक ओर तो 'कल्पना' या 'कृति' जैसी पत्रिकाएँ निकलती हैं और दूसरी ओर 'जासूस' या रंगशाला'। सिनेमा के गानों की लाखों प्रतियाँ बिक जाती हैं और कविता-संग्रह दूकानों पर रोते रहते हैं। इसी प्रकार हिंदी में इस समय अभिव्यंजना की श्रेष्ठतम समृद्धि और दरिद्रता के एक साथ दर्शन हो सकते हैं। कुछ लोग श्रेष्ठतम अध्येताओं की उपलब्धि प्राप्त करते हैं और कुछ निकृष्टतम कूड़े में ही रस ले लेते हैं। यदि हम किसी प्रजातान्त्रिक परम्परा को समृद्ध करना चाहते हैं, कोई सामाजिक समानता चाहते हैं, तो सांस्कृतिक धरातल की इस विषमता को तोड़ना ही होगा। ऐसी दशा में कथित मानवविद्याओं के अधिष्ठाताओं में बद्धमूल उस 'सद्भावना' को तोड़ना होगा, जो उन्हें इन जनप्रिय माध्यमों से दूर रखती है।

परन्तु कठिनाई यह है कि ये मानववादी इस बढ़ते हुये अन्तराल और उसके परिणामों को ध्यान में रखते ही नहीं हैं। कारण यह कि समाज के राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, सामाजिक आदि आयामों की सम्पूर्ण परिस्थितियों को ध्यान में रखे बिना ही वे इन माध्यमों पर विचार करने लगते हैं; एवं इसी कारण वे नितान्त अगतिशील बन जाते हैं। यह मानववादी प्रेम, करुणा आदि शाश्वत तत्वों की बात करता है, परन्तु आधुनिक संदर्भ में इन शब्दों के कितने प्रकार हो सकते हैं, इस पर ध्यान नहीं देता। इसी प्रकार मशीनीकरण एवं यन्त्र-विज्ञान आदि के पेशों के प्रति भी वह संदेहशील ही नहीं है, उनकी उपेक्षा भी करता है। वह समझता है कि ये मात्र साधन हैं। परन्तु वह यह भूल जाता है कि इनके द्वारा लक्ष्य का भी विकास होता है। मान लीजिए कि सत्य की खोज मानवजीवन का परम साध्य है तो निश्चित ही विज्ञान या यन्त्र मनुष्य की इस सत्य जिज्ञासा को बलवती बनाते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी उपेक्षा देने का परिणाम यह भी होता है कि इन पेशों में लगे लोग भी साहित्य या अन्य कलाओं के प्रति एक उपेक्षा का भाव

रखने लगते हैं, एवं भौतिक दृष्टि से अधिक समृद्ध एवं प्रभावशाली होने के कारण उनकी उपेक्षा अधिक घातक होती है तथा सांस्कृतिक अन्तराल और अधिक चौड़ा होता है।

ऊपर की इस विवेचना द्वारा मैं ज्ञान के क्षेत्र के या जो आज मानव-विद्याओं एवं समाज-विद्याओं के मध्य विद्यमान है, उस अन्तर्विरोध को प्रकट कर रहा हूँ। इसी कारण अब तक जन-कलाओं एवं वैयक्तिक निजी संवेदनाओं के तनाव की इतनी उपेक्षा की जा रही है। इस प्रकार, इनसे संबंधित तमाम महत्वपूर्ण प्रश्न—मानवतावादी का मशीन-विरोधी पूर्वग्रह तथा सामाजिक विद्याओं द्वारा सामाजिक मनुष्य को जानने की उपयोगिता—अचर्चित रह जाते हैं। इसी कारण आज के अधिकांश साहित्य के अध्यापक नये काव्य या नये साहित्य से चिढ़ते हैं। वे आज के युग के अनेक जटिल अन्तर्सम्बन्धों, द्रुतगतिशीला परिवर्तमानता एवं पारस्परिक व्यवहार के अनेक कोणों को समझ ही नही पाते हैं। फलतः नया साहित्य उन्हे दुरूह एवं अनर्गल लगने लगता है। यदि रचनाकार इस यथार्थ की उपेक्षा कर दे तो इस वस्तुस्थिति के जानकार उसे खयाली पुलाव पकाने वाला समझ लेते हैं। बहरहाल दोनों ही प्रकार से वह शीशमहल निवासी हो जाता है एवं व्यापक जनधारा से कट जाता है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि समाज-विद्याओं का

कारण इनकी उपयोगिता पर भी लोग सदेह प्रकट करने लगते हैं। पर कारण यह कि इनका उत्पादन या प्रस्तुतीकरण अत्यन्त अकलात्मक एवं कल्पनाहीन ढंग से हुआ है। यहीं तीसरा द्वन्द्व उभर कर आता है, शिक्षा-शास्त्री एवं मानववादी का। आजकल शिक्षा-प्रणाली को सभी कोसते हैं। और इसी दौरान में शिक्षाविदों के प्रति भी अनास्था या अधैर्य का भाव जागता है। इससे निबटने के लिए आज शिक्षाशास्त्री ऐसी शिक्षा की कल्पना करना चाहता है जो जीवन में भौतिक उद्देश्य को पूरा करने का साधन बने; परन्तु बहुधा मानववादी इस जीविकावाद के प्रति भी घृणा का भाव रखता है। परिणाम यह होता है कि इन नये व्यावसायिक कलारूपों के लिये, जिस प्रकार के सूक्ष्म कलात्मक बोध के अन्तर्गत विकसित हुये व्यक्तियों की आवश्यकता है, वैसे जन उसे मिल नहीं पाते और उन क्षेत्रों में हीन अविकसित रुचि वाले व्यक्ति कब्जा करके उस शैक्षणिक उद्देश्य को पूरा नहीं करने देते जो कि अभिप्रेत होता है। यह इतना बड़ा द्वन्द्व है कि इसी कारण हमारे विद्यार्थियों का कलाबोध एवं सौन्दर्य-बोध अत्यन्त थोड़ा होता है। साहित्य-कला-विभागों एवं शिक्षा-विभागों का आत्यन्तिक विभाजन रुचि-अपरिष्करण के लिए बहुत अंशों तक उत्तरदायी है। जैसे बिना समाज-विद्याओं के हम सांस्कृतिक दृष्टि से अंशतः अन्धे हैं, वैसे ही शिक्षा-शास्त्र से असम्पृक्त होने के कारण लगड़े भी।

वास्तव मे मानव-विद्याओं को सामाजिक-विद्याओं, शिक्षा-शास्त्र, आदि के जीवन्त सम्पर्क मे उसी प्रकार रहना चाहिए, जैसे कि जन-माध्यमों के; और तभी उपहासास्पद एवं अशुचि को हम हतोत्साहित कर सकेंगे, और जो कुछ विवेक-सम्मत है, उसे प्रोत्साहित। यहाँ पर मैंने विचारार्थ केवल समस्या उठायी है। समाधान की ओर भी इङ्गित किया गया है। पर यह समन्वय पाठ्यक्रमों के किस स्तर पर हो, यह अलग से विचारणीय बात है जिस पर कि गम्भीरतापूर्वक हम सबको सोचने की आवश्यकता है।

पं० प्रतापनारायण मिश्र और उनका युग

भारतेन्दु की मृत्यु के पश्चात् उस युग के प्रमुख साहित्यकार पं० बालकृष्ण भट्ट ने अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में लिखा था : "अब इस चन्द्र (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) के अस्त होने पर उनके उद्‌भट लेख की बची-बचाई कणिका यदि कहीं बच रही है, तो कानपुर निवासी "ब्राह्मण" सम्पादक के लेख में देखी जाती है।" यानी कि प्रतापनारायण मिश्र को भारतेन्दु का उत्तराधिकारी स्वीकार किया गया। सचमुच ही भारतेन्दु के समृद्ध दाय को सभालने की शक्ति उनमे थी।

बहुधा इस बात पर बार-बार जोर दिया जाता है कि समाज और साहित्य का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध भारतेन्दु-युग के साहित्यकारो मे उपलब्ध होता है, वैसा अन्य युगों में दुर्लभ है। युग के प्रति यह जो अतिरिक्त सजगता थी, इसका कारण ढूँढा जा सकता है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा कि समसामयिक जीवन के प्रति जितनी सघन जागरूकता पं० प्रतापनारायण मिश्र मे प्राप्त होती है, उतनी भारतेन्दु मे भी नहीं मिलती। भारतेन्दु का दायरा बड़ा था, प्रतिभा बड़ी थी, कार्यक्षेत्र विशाल था, पर प्रतापनारायण जी तो मानो साहित्य का लक्ष्य ही बनाए हुए थे -

पढ़ि कमाय कीन्हों कहा,
हरे न देश कलेश।
जैसे कंता घर रहे, तैसे रहे विदेश।

जागरण-युग

भारतेन्दु-प्रतापनारायण युग हमारे साहित्य का पुनर्जागरण काल है। इसका प्रारम्भ हम स्थूल रूप से सन् १८०० के आसपास से मान सकते हैं। सन् १७५७ मे प्लासी-युद्ध के बाद अंग्रेजी शासन देश में अपनी नींव दृढ़ करता है। उसे अपेक्षित शक्ति प्राप्त होती है। १७६४ ई० मे होने वाले बक्सर युद्ध के बाद तो उसका प्रसार वर्तमान उत्तरप्रदेश तक हो जाता है। शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद शासन के दौरान मे भारतीयों और अंग्रेजों में में अधिक घनिष्ठ सम्पर्क आवश्यक हो गये। शिक्षा, धर्म, साहित्य आदि

अनेक अंशों में एक जीवंत और शक्तिशाली जाति की निकटता हमने प्राप्त की। सन् १८०० में शासन की आवश्यकताओं के अनुरूप कलकत्ते में 'फोर्ट विलियम कालेज' की स्थापना हुई तथा श्रीरामपुर मिशनरी ने १८०१ १८१२ के दौरान में इंजील आदि की लाखों प्रतियां भारतीय भाषाओं में छाप कर बँटवायी। इस प्रकार प्रशासकीय स्तरों के अतिरिक्त भी धर्म और शिक्षा में बहुत कुछ आयात किया जा रहा था। प्रेस की स्थापना ने इस सारे कार्य और परिस्थिति को अत्यधिक वेग प्रदान किया। सन् १८२६ में हिंदी का पहला समाचार पत्र 'उदंत मार्तण्ड' आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों की ही उपज था। वास्तव में इस सारे कोलाहल को पत्रों के माध्यम से कोआरडिनेट किया गया। समन्वय एवं सन्तुलन के चरम प्रबल आगे चल कर भारतेन्दु, प्रतापनारायण एवं बालकृष्ण भट्ट के पत्रों में प्राप्त होते हैं। उस संतुलन और (Coordination) का ही एक रूप 'ब्रह्म समाज' की स्थापना भी थी, जिस पर कि पश्चिमी विचार-सरणि की गहरी छाप थी। ईसाई मिशनरियों ने अपने प्रचार द्वारा धर्म-सम्बन्धिनी दृष्टि और सजगता ही नहीं दी, शास्त्रार्थ और प्रचार की एक नयी शैली भी दी, जिसे आगे आर्य समाजियों तक ने अपनाया। 'फोर्ट विलियम कालेज' ने दुहरा पार्ट अदा किया। एक ओर तो वह भारतीय पण्डितों को यूरोपीय साहित्य और विचार-धारा के निकट लाया और दूसरी ओर योरोप के सुधी जनों को भारतीय साहित्य के रस की ओर आकृष्ट किया, जिसके आधार पर आगे चल कर भारत-विद्या (Indology) नामक एक विशिष्ट ज्ञान एवं अध्ययन-शाखा ही विकसित हुई। यहीं यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि १९वीं शती के योरोप की समस्त रीति-नीतियों की प्रेरक शक्ति राष्ट्रीयता थी। अतः विचार-धाराओं के आयात में यह शक्ति भी धीरे-धीरे भारत की ओर आ रही थी। धीरे-धीरे इसलिए कि भारतीय भूमि अभी पूरी तरह उसके लिये अनुकूल नहीं बन पायी थी। अभी भारत टुकड़ों में बँटा था, एक केन्द्रीय शक्ति का पूर्णरूपेण आभास नहीं हुआ था। यह कार्य शताब्दी के उत्तरार्ध में हुआ और इसलिये उत्तरार्ध में ही आकर हमें राष्ट्रीय चेतना की बलवती अभिव्यक्ति अपने साहित्य में प्राप्त होती है।

सामन्तों का मोहभंग

अस्तु, उन्नीसवीं शती पूर्वार्द्ध की उस सांस्कृतिक-वैचारिक स्थिति के साथ ही साथ अंग्रेजी शासन आगे बढ़ता आ रहा था। मैकाले का भारतीय संस्कृति को जीतने का ही उद्योग नहीं चल रहा था, क्लाइव से लेकर डल

बढ़ावे पर रही। तथा
के एकमात्र प्रभुत्व-
ा है कि देश में एक
और परस्पर गुम्फित

शासन सूत्रों ने राष्ट्रीयता की भावधारा को विकसित करने मे अत्यधिक सहायता दी।) यह युग राजनीतिक दृष्टि से सामन्तो के मोहभंग का था जिसके साथ धर्म भावना, वीरपूजा वृत्ति, तथा अपरिचितों द्वारा अपमानित होने की हीनता भावना ने मिल कर १८५७ की क्रान्ति को जन्म दिया था। यह विद्रोह राष्ट्रीय ही था, पर राष्ट्र और राष्ट्रीयता की तत्कालीन विकास स्थिति मे ही। उसे आज की राष्ट्रीयता की धारणा के साथ मिलाकर देखना अधिक न्याय-सगत न होगा।

द्विविध स्थितियाँ

विद्रोह असफल होता है, रोलर अन्तिम ककडो को भी कूट देता है और अब इस समतल भारत पर उन आर्थिक नालियों का निर्माण अधिक तेजी से प्रारम्भ हुआ जिनका बहाव इङ्गलैण्ड की ओर था। देश से धन खिच-खिच कर इङ्गलैण्ड की ओर जा रहा था। अकाल और महामारियाँ बढ़ रही थी, जिन्होने पुन. एक प्रकार का असन्तोष उत्पन्न करना शुरू किया।

दूसरी ओर एक नया मध्यवर्ग सम्मुख आ रहा था जिसमें नव-शिक्षित, सरकारी नौकर, लकाशायर—मैन्चेस्टर की मिलों के लिए माल भेजने वाले और वहाँ से आये माल को बेचने वाले मध्यवर्ती व्यक्ति एवं नये जमीदार आदि थे। इस वर्ग के भीतर हर्ष और उत्साह था, आशा का सचार हुआ था। इन्हे सरकारी गैर-सरकारी क्षेत्रो मे अपेक्षाकृत सम्मान भी प्राप्त हो रहा था। साधारण जनता भी कम मे कम एक क्षेत्र में अच्छाई का अनुभव कर रही थी—मुगल शासन के अन्तिम दिनों मे जो एक अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी थी; देश मे न तो व्यवस्था थी न कानून, जिसकी लाठी उसकी भैस वाली स्थिति थी; ठगो और पिण्डारियों आदि का जोर बढ़ गया था; उसका अग्रेजी राज मे आकर अन्त हो गया। 'नवाबी' (अव्यवस्था के लिये प्रचलित सामान्य शब्द) के स्थान पर लोगों को कानून की सुरक्षा मिली। इस अकेले तथ्य ने भारतीय जनता मे उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में अग्रेजी शासन के प्रति प्रशसा का भाव जाग्रत किया। यद्यपि भारतेन्दु जैसे प्रबुद्ध जनों से यह छिपा न रहा कि इस राज्य मे 'इङ्गलिश पालिसी नामक ऐक्ट की हाकिमेच्छा नामक धारा' भी है। पर यह तो आंतरिक बात

थी, अंग्रेज के हित के प्रश्न पर होने वाला प्रश्न था, अन्यथा सामान्यतया एक प्रकार की सुरक्षा की भावना देश में उत्पन्न हो गयी थी। परन्तु शीघ्र ही निलहे गोरों आदि के अत्याचारों ने इस कानूनी डंके की निस्सारता भी सिद्ध होने लगी।

द्वित्वमूलक भाव

अस्तु इन विविध प्रकार की द्विविध स्थितियों के मध्य इस युग के लिखने-पढ़ने वालों का दल पल रहा था। और इसी स्थिति में लिखा हुआ वह साहित्य है जिसमें एक ओर अंग्रेजी शासकों की प्रशंसा भी की जा रही थी और दूसरी ओर अंग्रेजी शासन के प्रति निन्दा का भाव भी अभिव्यक्त हो रहा था। अम्बिकादत्त व्यास 'कटोरिया सी विकटोरिया रानी' की स्तुति करते हैं, भारतेन्दु बाबू 'अंग्रेज राज के सुखसाज' की बात उठाते हैं तथा पं० प्रतापनारायण मिश्र युवराजकुमार का स्वागत करते हुये कहते हैं—

भारत माता आज तुम्हें दिल लाय जुड़ानी।
जुग-जुग जीवहु हृदय कमल सूरज सुखदानी॥

परन्तु शीघ्र ही अपना असन्तोष व्यक्त करते हुये कहते हैं कि जो लोग आप से नाना प्रकार के वेश बनाकर मिलने आते हैं, वे भारत की वास्तविक स्थिति का आपको आभास नहीं होने देते और स्वयं मिश्र जी भारत दुर्दशा का वर्णन करने बैठ जाते हैं। यही वे जाने-अनजाने अंग्रेजी राज्य के मूलाधार पर ही आक्षेप करते हैं। कहना यों चाहिये कि वे समस्त दुर्दशा का मूलमन्त्र जान लेते हैं—

यह कर केवल हेतु यहै जो खींकर सब धन,
टिक्कस व्यापारादि पंथ है पहुँचत लन्दन।
फिर ह्वाँ ते यहि ओर कबहुँ कैसे हु नहिं आवत,
बस याही ते दुख दारिद्र दुरदसा सतावत॥

लेकिन इन लोगों को अभी यह आशा बनी थी कि 'धन विदेश चले जाने वाली "ख्वारी" शीघ्र ही दूर हो जाएगी। अभी उन्हें विक्टोरिया की घोषणा पर विश्वास बना हुआ था तथा अंग्रेजी राज्य-नीति का असली स्वरूप पूरी तरह उघड़ा न था। भारतेन्दु जब कला-कौशल, इंजीनियरिंग आदि विद्याओं को भारत में स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, उस समय उन्हें यह स्पष्ट ज्ञात न था कि अंग्रेजी नीति मूल रूप से इन सबकी विरोधिनी है। वास्तव में इस युग के लेखकों के मन में था कि हमारे सर्वोच्च शासक (राजा-रानी, वाइसराय) बहुत अच्छे हैं, उनके अभिप्रायों (Intentions) पर सन्देह नहीं किया, तथा बुराई नीचे उसका अमल करने वाले कर्मचारियों में

उन्होंने देखी। अंग्रेजी शासन प्रणाली एकबद्ध(Integrated)मशीन है,जिसका हर पुर्जा दूसरे के साथ जुड़ा है; यह तथ्य भारतीय शासन व्यवस्था के अनुकूल न था, यहाँ पर राजा व्यक्तिगत सुख-दुख का ख्याल रखने वाला माना गया है। इसी कारण राजा और राज्य कर्मचारी का ऐसा द्विरूपमूलक भाव इन लेखकों में पाया जाता है। इस तथ्य का प्रतिबिम्ब तत्कालीन राजनीति में भी देखा जा सकता है। पेटीशन, मेमोरेण्डम, अपील, प्रस्ताव, डेलिगेशन आदि उस समय की कांग्रेस के मुख्य अस्त्र थे; तथा माँग थी एक सीमित क्षेत्र के भीतर स्वशासन। मध्यवर्ग का यह मोहभंग तो १९वीं शती के अन्तिम वर्षों एवं बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशक में भली प्रकार होता है जब कि शिक्षितों की बेकारी, दुर्दशा, महामारी, अकाल, महँगाई, निर्धनता आदि सारी प्रार्थनाओं, अपीलों आदि के बावजूद बढ़ते गये। तभी भारतेन्दु, प्रतापनारायण आदि का अपेक्षाकृत मृदुल विरोध बालमुकुन्द गुप्त के तीखे, 'शिवशम्भु के चिट्ठे में बदल जाता है।'

पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण

कोई भी देश जब लम्बी मोहनिद्रा के बाद जागता है तो वह अपने अतीत की ओर उसी प्रकार निहारता है, जैसे सो कर उठा हुआ व्यक्ति पिछली सांझ और रात के स्वप्नों को सबेरे सबसे पहले सहेजता है। यह स्थिति प्रत्येक पुराने देश के नव जागरण-काल में आती है। यूरोपीय रिनैसां में भी प्राचीन ग्रीक और रोमन सभ्यताओं के प्रति गहरी रुचि जाग्रत हो गयी थी। उसका एक मनोवैज्ञानिक कारण यह भी है कि अतीत का गौरव वर्तमान अधोगति में मनुष्य को वह विश्वास देता है जिससे कि भविष्य के प्रति वह आस्थावान बन पाता है। हमारे देश के नवजागरण में भी यह अवस्था आयी। सामाजिक, धार्मिक जीवन में आर्य-समाज, ब्रह्म-समाज जैसी संस्थाओं का उदय आकस्मिक नहीं था। 'आर्य-समाज' की बहुत बड़ी ऐतिहासिक देन है कि उसने अपने पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण के द्वारा अतीत की महिमा को इतना अधिक उजागर किया कि उससे सम्पूर्ण राष्ट्र में एक दृढ़ आत्मविश्वास जग उठा। वास्तव में यह पुनरुत्थानवादी आन्दोलन वह भूमि थी जिस पर कांग्रेस का राजनीतिक बीज वपन हुआ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र में अपने समकालीन लेखकों एवं प्रबुद्ध वर्गों की भाँति नवजागरण की यह प्रथम अवस्था बराबर प्राप्त होती है। वे स्थान-स्थान पर इस बात का संकेत करते हैं कि हम अतीत में कैसे महान थे और अब कितने हीन हो गये हैं तथा अब-तक भविष्य के लिए विशेष भी

दे देते हैं। 'प्रताप-लहरी' की कुछ ही कविताएँ ऐसी होंगी जिनमें ऐसे व
न प्राप्त हों; अन्यथा वे इस चेतना से भाराक्रान्त-से दिखाई देते हैं :—

> सब गति ह्वै जहँ रह्यो एक दिन कनक बरसत
> तहँ चौथाई जन रूखी रोटी तरसत।
>
> —बँडला स्वागत

तथा—

> धर्म गयो धन बल गयो, गई विद्या अरु मान।
> रह्यो सही भाषा हतो सोऊ चाहति जान॥

इसीलिए इस द्रष्टा का स्पष्ट मत है :—

> सब तजि गह्यो स्वतन्त्रता, नहिं चुप लातैं खाव।
> राजा करै सो न्याव है, पाँसा परै सो दाँव॥

अपने 'स्वतन्त्रता' नामक निबन्ध में मिश्र जी ने स्पष्ट घोषित किया है, "यदि आप योग्यता रखते हो अथवा धन, जन, बल, छल इत्यादि की सहायता से योग्य बन जाएँ तो आपको भी आप से आप मिल कर रहेगी, नहीं तो याचना वह है जिसने त्रैलोक्य व्यापी विष्णु भगवान को बावन अंगुल का बना दिया।"

हिन्दू-राष्ट्रवाद

जैसा द्विधाविभक्त दृष्टिकोण हम इन लेखकों में अंग्रेजी शासन के प्रति पाते हैं, वैसा ही बहुधा मुसलमानों के प्रति भी मिलता है। लोगों ने इसीलिए बहुधा इन पर सकीर्णतावादी होने का या तो आरोप लगाया है या फिर इनके हिन्दू-राष्ट्रवाद (जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद का सखा रहा है) की पीठ ठोंकनी चाही है। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अलग हटाकर साहित्य को देखने पर ऐसे ही मिथ्या-भ्रमों की सृष्टि होती है। मान्यताओं और धारणाओं की भी एक ऐतिहासिक सीमा होती है। उस युग तक राष्ट्रीयता की विस्तृत धारणा नहीं बन पायी थी। एक प्रकार की जो चेतना जाग्रत हो रही थी, उसमें 'अपनेपन' का भाव प्रमुख था और यह 'अपनापन' भारतीय प्रकृति और आर्यसमाज आदि के फलस्वरूप धर्म की ओर अधिक झुका हुआ था। इसके अतिरिक्त पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से अतीत को देखने पर भी मुसलमानों से पूर्व का युग आवश्यक से सामने आता है, क्योंकि भारतीय [illegible], कला, पराक्रम और वैभव का पतन मुसलमान शासन में प्रारम्भ [illegible] (यह ध्यान में रखने की बात है कि इस ह्रास का कारण [illegible]।) इसी कारण मिश्र जी 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' का नारा

लगाते हैं, अन्यथा उन्हें अच्छी तरह ज्ञात है कि, "........जितना दारिद्रय मुसलमानों के सात सौ वर्ष के प्रचण्ड शासन द्वारा न फैला था उतना, वरन उससे भी अत्यधिक, नीतिमय राज्य में विस्तृत है।" तथा वाजिद अली शाह की मृत्यु पर शोक प्रकट करते हुए उन्होंने कहा था, "तुमने अपनी प्रभुता के समय हिन्दू-मुसलमान दोनों को अपनी प्यारी प्रजा समझा है। यह तुम्हारा एक गुण ऐसा है कि यदि तुम में सचमुच के सहस्र दोष भी होते तो भस्म कर देता।"

वर्तमान की सजगता

प्रसिद्ध कलावादी आलोचक ए० सी० ब्रैडले का मन्तव्य है कि यदि किसी कविता के लिए महान् जैसी कोई वस्तु होना है तो उसे एक अर्थ में वर्तमान से सबद्ध अवश्य होना चाहिए। उसकी विषय-वस्तु कुछ भी हो, परन्तु उसे वह कुछ जीवन्त अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिए जो उन मस्तिष्कों में विद्यमान है, जहाँ से वह आती है तथा जिन मस्तिष्कों में जाती है।" प्रतापनारायण जी में वर्तमान क्षण की यह सजगता बौद्धिक और भावात्मक दोनों स्तरों पर पूरी तरह विद्यमान है। उनका विचार तन्तु ही नहीं वक्तव्य भी आधुनिक ही है। निबंध तो उनका एक भी ऐसा नहीं जिसमें समसामयिक जीवन की अभिव्यक्ति न हो, तथा अधिकतर अपनी कविताओं में अवसर पाते ही वे वर्तमान को स्थापित कर देते हैं। कहाँ तो होली के रागरंग और उल्लास का वर्णन और कहाँ बीच में ही वे कहने लगे—

महगी और टिकस के मारे सिगरी वस्तु अमोली है।
कौन भाँति मनैद, कैसे कहिये होली है॥

तीक्ष्ण व्यंग्य

कभी-कभी यह सजगता काव्य के कलात्मक प्रभाव की दृष्टि से अनुचित प्रतीत होती है। वास्तव में यदि इस युग के लेखकों का लेखक-कलाकार की दृष्टि से कम से कम महत्व प्रकट करना चाहें तब भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि मिश्र जी, भारतेन्दु तथा उनके अन्य सहयोगियों के कृतित्व के आधार पर उस युग के इतिहास के एक बड़े अंग की पुनर्रचना हो सकती है; इतिहास का स्थूल बाहरी रूप ही नहीं, उसके आन्तरिक मंतव्यों तक पहुँचा जा सकता है। सामाजिक इतिहास के इन गहरे व्यंग्यों में छिपे मतव्यों को समझना कठिन नहीं है—

कलिकोष—

कचहरी—कच माने बाल और हरी माने हरण करने वाली, अर्थात् मुण्डन (उल्टे छुरे से मूँड़ने वाली) जहाँ गये मुड़ाये सिद्धि।

हाकिम—दुखी कहता है हा ! (हाय) तो हुजूर कहते हैं 'किम' अर्थात् क्या है बे । अथवा क्यों बकता है ।

अंग्रेजी राज्य की कानूनी व्यवस्था और शासन की वास्तविक स्थिति पर इससे अधिक सटीक टिप्पणी क्या हो सकती है ?

'इलबर्ट बिल' पर भी उनकी लम्बी कविता है तथा काले सिपाहियों की यह गति भी स्पष्ट है—

उदर हेत जे शिर बेंचन पलटन मँहु जाहीं
गोरे रंग बिनु ठीक आदरित नाहीं ।

पेट के लिए सिर बेंचने की इस मजबूरी पर कौनसा सहृदय शोक न प्रकट करेगा । उनकी प्रखर राजनीतिक चेतना और अंग्रेजी कूटनीति के स्वरूप को निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

१ नित हम री लातैं सहैं, हिन्दू सब धन खोय ।
भूलैं न इङ्गलिस पालिसी, जन्म सफल तब होय ॥

२ सर्वसु लिए जात अंग्रेज,
हम केवल लेक्चर के तेज ।
श्रम बिनु बातैं का करतो हैं,
कहु टेटकन गाजैं टरतो हैं ।

आर्य समाज, स्वामी दयानन्द सरस्वती, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोरक्षण, बँडला तथा युवराज आगमन, लार्ड रिपन के सुधार, कांग्रेस शिक्षा कमीशन, भाषा-समस्या, बेगारी-प्रथा आदि पर उनकी कविताएँ अथवा टिप्पणियाँ बराबर उपलब्ध होती हैं ।

"बुद्धि और बुद्धिमानी के द्वारा अनुमोदित व्यवहार ही का नाम धर्म है ।" यह कथन आज के किसी बुद्धिवादी का नहीं, बल्कि पं० प्रतापनारायण मिश्र का है । बौद्धिकता और विवेक-निष्ठा के कारण इन लेखकों में अत्यधिक संतुलन आ गया था । ये लोग यदि एक ओर प्राचीनता की स्तुति करते थे तो दूसरी ओर नवीनता का स्वागत । एक ओर पोंगापंथी पंडितों, धर्म के आडम्बरी ठेकेदारों और अन्ध रूढ़ियों की बखिया उधेड़ते हैं तो दूसरी ओर स्वदेश और निजी संस्कारों को पूर्ण परित्याग की नकल करने वालों की भर्त्सना कर खिल्ली भी उड़ाते हैं—"ढूढ़ के देखे कि उनमें कोई देसी चूक न हो । यदि हिन्दुस्तानी के हाथ से न लिये गये हों तो और अच्छा ।"

वे पदार्थ-विद्याओं को सीखने का भी आवाहन करते हैं; भारतेन्दु बाबू ने तो इन्जीनियरिंग कालेज खोलने का भी स्वप्न देखा था । देशी वस्तुओं का व्यवहार, उद्योग-धन्धों की स्थापना, नौकरी नहीं अन्य प्रकार के रोजगारों की ओर इन सभी लेखकों का झुकाव था ।

प्रतापनारायण जी की रूखी चर्चा ही इस निबन्ध में हो सकी है। यों वे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ आत्म-व्यंजक निबंधकार हैं। उनके साहित्य का रस लोक ऐसा भी है जिसमें व्यंग्य है, हास्य हैं, चुहल है और है जिन्दादिली, जहाँ पर भाषा स्वयं भाषण करने लगती है, शब्द नृत्य करने लगते हैं, और वक्तव्य मूर्तिमान हो उठता है, जहाँ सारे दोष 'प्रत्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या सव्रियते कवेः' के अनुसार तिरोहित हो जाते हैं। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर ही प्रसिद्ध साहित्यकार बालमुकुन्द गुप्त ने उनका जीवन-चरित्र लिखते हुये कहा था: "पंडित प्रतापनारायण मिश्र में बहुत सी बातें बाबू हरिश्चन्द्र की सी थी। कितनी ही बातो में वह उनके बराबर और कितनी ही मे कम थे; पर एक आध मे बढकर भी थे।........जिस गुण में वह कितनी ही बात हरिश्चन्द्र के बराबर हो जाते थे, वह उनकी कवित्व शक्ति और सुन्दर भाषा लिखने की शक्ति थी। हिन्दी गद्य और पद्य के लिखने मे हरिश्चन्द्र जैसे तेज, तीखे और बेधड़क थे, प्रतापनारायण भी वैसे ही थे।"

ग्रीक और भारतीय पुराण-गाथायें

'यह पुराण गाथाएँ—चाहे हम उन्हें ग्रीक कहें अथवा आर्य या और कुछ—उस घास के समान हैं जो प्रत्येक भूमि पर उगती है।'

—फिरोना मैक्लियोड

साधारणतः पुराण गाथा से हमारा तात्पर्य उस कहानी से होता है जो इस ढंग से कही जाती है जैसे कि वह पुरा-काल में घटित हो चुकी है। यदि हम अपने बचपन को याद करें तो ज्ञात होगा कि बहुधा प्राकृतिक पदार्थ-वर्षा, अन्धकार, पहाड़ आदि हमें या तो डराते थे या लुभाते थे। हम गुड्डे-गुड्डों को सुन्दर कपड़े पहनाते और उनका विवाह कराते थे। जिस पत्थर से हमें चोट लग जाती थी, हम समझते कि इसने हमें जान-बूझ कर चोट पहुँचाई है। पी० थामस के अनुसार मानवता को भी एक व्यक्तित्व के रूप में यदि मान लिया जाय तो उसके बचपन (आदिम-युग) की भावनाएँ, भय, आशा, निराशा और जिज्ञासा हमें पुराण-गाथाओं में प्राप्त होती हैं तथा वे पवित्र अथवा भ्रष्ट परम्पराओं द्वारा हम तक आई हैं।

वास्तव में मनुष्य जिज्ञासु प्राणी है। जब विज्ञान प्रकृति और पदार्थ का रहस्य बताने वाली कुञ्जी के रूप में हमें उपलब्ध न था तब भी मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों की कतिपय व्याख्याएँ देनी चाही थीं। श्री जी० एल० गोमे के अनुसार "इन कथाओं में 'विज्ञान-पूर्व' युग के विज्ञान के अनुसार पदार्थ की व्याख्या पाई जाती है।" ये गाथाएँ यह बताना चाहती हैं कि पानी क्यों बरसता है? इन्द्रधनुष क्या है? अथवा सूर्य कहाँ से आता है? कुछ विद्वानों ने तुलनात्मक अध्ययन द्वारा यह बताया है कि सभी देशों की पुराण-गाथाएँ प्राकृतिक तत्वों और उपादानों की व्याख्या करती हैं, जैसे कि सूर्य और चन्द्रमा की उत्पत्ति और अस्तित्व के बारे में हर देश की गाथाएँ कोई न कोई व्याख्या अवश्य करती हैं परन्तु सही अर्थ में यह कहना कठिन है कि वास्तव में उनका व्याख्यात्मक रूप ही मुख्य है अथवा केवल वही पहलू अधिक अध्ययन के प्रकाश में आया है। उत्तरी अमरीका की गाथाओं में कथा का तत्व मुख्य है, व्याख्या का गौण।

पुराण-गाथाएँ प्राचीनकाल में एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक

जीवन मे रहने के ढंग से उत्पन्न दृष्टिकोण से, जीवन के अनेक तथ्यों के प्रति विचार और अनुभूति की अभिव्यक्ति है। वे वास्तव में हमारी किसी तर्क-बुद्धि या जिज्ञासा के शमन के लिये नहीं बल्कि कल्पना-शक्ति द्वारा मस्तिष्क में होने वाली प्रतिक्रिया को सूचित करती हैं।

जिस प्रकार भूमि के विविध स्तर उसकी आयु और प्रकार आदि बताते हैं, उसी प्रकार पुराण-गाथाओं के विविध स्तर होते हैं जो विविध जातियों की विविध युगों की सभ्यता और संस्कृति का वर्णन रूपकात्मक ढंग पर करती हैं। यद्यपि विज्ञान की प्रगति के साथ उनका महत्व घट गया है फिर भी जन-जीवन की भावना पर उनका गहरा अधिकार है। कला, काव्य और लोक-साहित्य पर गाथाओं का गहरा प्रभाव है। अजन्ता की गुफाओं, योरप के गिरजाघरों और महलों, भित्तिचित्रों और खडहरों पर उनका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

यदि कोई व्यक्ति यह आशा करे कि इन पुराण-गाथाओं के माध्यम से हम उस युग का पता पा सकेंगे जब मनुष्य असभ्य था, दुनिया शिशु थी, कल्पना बौद्धिकता के बोझ के नीचे न दब कर पूरी तरह उन्मुक्त थी तो उसे कुछ अंशों तक निराश होना पड़ेगा। बहुधा लोगों में ऐसी भावना होती है कि पुराण-गाथाएँ हमें एक ऐसे परी-लोक में ले जाती हैं जहाँ अप्सरायें नदी में स्नान करती हुई निकल रही होती हैं या पेड़ों से निकलती हुई वन-देवियों को देखा जा सकता है; जहाँ हमें विचित्र प्रकार के आकर्षक और मोहक दृश्य दिखाई देते हैं। पर असभ्य जातियों के तौर-तरीके का किंचित् मात्र अध्ययन इस रोमांटिक दृष्टिकोण को नष्ट कर देने के लिए पर्याप्त है। अप्सराओं, परियों और वरदहस्ता वन-देवियों के स्थान पर हमें भय, क्रूरता, मानव बलिदान और जादू-टोने आदि दिखाई पड़ते हैं। अकारण ही होने वाले दैवी-प्रकोपों से सुरक्षा का एकमात्र उपाय उन लोगों के पास जादू-टोना और मानव-बलिदान होता है। परन्तु चित्र का यह धुंधला और भयावना पक्ष भारतीय और ग्रीक क्लासिकल पुराण-गाथाओं से योजनों दूर है। ग्रीक और भारत दोनों ही संस्कृति और सभ्यता की दृष्टि से प्राचीन देश हैं। इनकी उपलब्ध पुराण-गाथाएं भी अनगढ़ और मौलिक नहीं हैं, बल्कि वे महाकवियों और कथावाचकों की परम्परा से होकर गुजरी हैं। आदिम-मनुष्य की अपने परिवेश के प्रति क्या प्रतिक्रिया होती है, यह समझने में ग्रीक या भारतीय गाथाएं बहुत सहायता नहीं पहुँचातीं। इन पुराण-गाथाओं से ज्ञात होता है कि वे आदिम बर्बरता से ऊपर उठ आए थे। इससे

सभ्यता का विकास हो रहा था। वहाँ कीचड़ नहीं निर्मल जल दिखलाई पड़ने लगता है यद्यपि इधर-उधर कतिपय काले छींटे बर्बरता और मानव-बलिदानों के भी प्राप्त होते हैं; यथा ऋग्वेद की शुनःशेप की कथा में अथवा कतिपय ग्रीक-कथाओं में।

जैसा कि पूर्व ही कहा गया है, ये पुराण-गाथाएँ बड़े कवियों एवं विद्वानों की परम्परा से हम तक आयी हैं। ग्रीक-गाथाओं का पहिला लिखित रेकर्ड होमर का 'इलियड' हैं। होमर का युग ईसा पूर्व १००० माना जाता है। इलियड में प्राचीनतम ग्रीक-साहित्य अत्यन्त समृद्ध, सूक्ष्म और सुन्दर भाषा में अभिव्यक्त हुआ है और अभिव्यंजना की यह समृद्धता एक लम्बी साधना और समय से ही प्राप्त होती है। विकसित सभ्यता का एक निश्चित लक्षण है कि वह भावों, घटनाओं और परिस्थितियों का सूक्ष्म अंकन अपने अभिव्यंजना के उपकरणों के द्वारा करने में समर्थ होती है। भारतीय पुराण-गाथाओं और वैदिक-साहित्य में प्राप्त होने वाली देव-स्तुतियों में भाषा को और भी अधिक सुघड़ता, रंगीनी तथा सौष्ठव प्राप्त होता है। अतः ये कथायें आदिम नहीं ग्रीक या भारतीय सभ्यता पर अधिक प्रकाश डालती हैं; और इनके आलोक में ग्रीक और भारतीय सभ्यता तथा समाज के कलात्मक और राजनीतिक दायों की स्पष्ट विवेचना की जा सकती है।

कतिपय पश्चिमी समाज-शास्त्रियों और पुराण-गाथा-विशेषज्ञों का कथन है कि ग्रीक सभ्यता के उदय के साथ एक नया विचार संसार में आया—उसके अनुसार मनुष्य विश्व का केन्द्र बन गया। इन लोगों के अनुसार इसके पूर्व मनुष्य को कोई महत्व प्राप्त नहीं था। यह निश्चित बात है कि ऐसा विचार, विचार और कल्पना के क्षेत्र में, अत्यन्त ही क्रान्तिकारी चरण था, परन्तु यह मत भ्रामक है कि सर्वप्रथम मनुष्य का महत्व ग्रीस में ही आँका गया।

ऐसे लोग प्रमाण देते हुये कहते हैं कि ईराक, मिस्र आदि देशों में जिन देवताओं की उस युग में कल्पना की गई थी वे सब मनुष्य के प्रतिरूप न होकर विचित्र-विचित्र शक्लों और आकारों के थे; जब कि ग्रीकों ने अपने देवताओं को अपने समान आकृति वाला बनाया। इसके पूर्व इन देवताओं का यथार्थ से कोई सादृश्य नहीं था। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि ऐसे स्थलों पर भारतीय गाथाओं का संकेत नहीं किया गया, अथवा यदि संकेत किया भी तो नृसिंह, वराह आदि अवतारों की ओर इङ्गित करके यहाँ

गया कि भारतीय मेधा भी ईश्वर की कल्पना ऊल-जलूल आकृतियों में ही करती रही, उसका मानवीकरण नहीं कर सकी। पर यह बात दो बातें सोचने के लिए विवश करती है कि या तो यह सब जान-बूझकर पूर्वाग्रह से मुक्त होकर कहा जाता है अथवा फिर भारतीय गाथाओं से परिचय न होने के कारण एकांगिता के दोष से युक्त है।

अस्तु, सेंट पाल का यह कथन कि "अदृश्य दृश्य द्वारा मूर्त होना चाहिए; यह हिब्रू नहीं ग्रीक आइडिया है" संशोधित करके कहा जाना चाहिए कि यह ग्रीक नहीं भारतीय आइडिया है। दो एक उदाहरण देखें। *वैदिक कवि कहता है—हे प्रकाशवती उषे, तुम कमनीय कन्या की भाँति* अत्यन्त आकर्षणमयी बनकर अभिमत फलदाता सूर्य के निकट जाती हो तथा उनके सम्मुख स्मित वदना युवती की भाँति अपने वक्ष को आवरण-रहित करती हो।

कन्येव तन्वा शाशदानाएषिदेवि देवमियक्षमाणम्।
संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुषे विभाती॥

ऋग्वेद।१।१२३।१०॥

श्री बलदेव उपाध्याय के अनुसार "यहाँ कवि की मानवीकरण की भावना अत्यन्त प्रबल हो उठी है। यहाँ उषा के कुमारी रूप की कल्पना है। स्मित-वदना सुन्दर रूप को प्रकट करने वाली युवती कन्या की कल्पना सूर्य के पास प्रणय-मिलन की आकांक्षा से जाने वाली उषा के ऊपर कितनी समुक्तिक तथा सरस है।"

परन्तु इस विवाद का वास्तविक समाधान एक तीसरे मत के अनुसार समुचित ढंग से हो जाता है। पुराण-गाथाओं का एक वैज्ञानिक पक्ष भी होता है। तुलनात्मक और वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा नृतत्व-शास्त्रियों ने जातियों के निष्क्रमण, मिश्रण आदि का पता लगाया है। मैक्समूलर ने बताया है कि छान्दोग्य-उपनिषद् में जो अंडे वाली कथा है जिसमें कहा गया है कि सारी सृष्टि का उद्भव अंडे से हुआ, बिल्कुल ऐसी ही एक कथा फिनिश लोगों में प्रचलित है। इन पुराण-तत्वज्ञों ने तमाम हिन्दू, ग्रीक और स्कैन्डेनेवियन कथाओं का उद्गम एक ही माना है। उनका कहना है कि मूलतः आर्य या ऐसी ही कोई जाति थी जो अपने मूल स्थान से चलकर ग्रीक, जर्मनी और भारत में रहने लगी। अन्य स्थानों पर जाकर रहने से नये सम्पर्कों के कारण उनके धर्म, उनकी भाषा और नामों में बहुत से परिवर्तन और संशोधन हुए,

किन्तु इनमें अपूर्व समतायें अभी भी विद्यमान हैं। निम्न हिन्दू और ग्रीक देवता एक से माने गये हैं।

हिन्दू	ग्रीक
इन्द्र	ज़िअस (लैटिन, जुपिटर)
वरुण	पुसेडन (लैटिन, नेप्च्यून)
सूर्य	हेलिअस (लैटिन, सोल)
चन्द्र	सेलीनी(देवी)(लैटिन, ल्यूना)
विश्वकर्मा-अग्नि	हीफेस्टस (लैटिन, वल्कन)
अश्विनीकुमार	कैस्टर, पोलक्स (दोनों का सामान्य नाम डिस्कोरी था)
कार्तिकेय	एरीस (लैटिन, मार्स)
दुर्गा	हेरा (लैटिन, जूनो)
सरस्वती	एथेना (लैटिन, मिनर्वा)
उषा	ईओस (लैटिन अरोरा)
काम	एरोस (लैटिन, क्यूपिड)
रति	एफ्रोडाइटी (लैटिन, वीनस)

ग्रीक ही नहीं मिश्री और हिन्दू-पुराण-गाथाओं और रीति-रस्मों में बड़ी समानता प्राप्त होती है। भारतीयों की भांति मिश्री लोगों में भी एक प्रकार की वर्ण-प्रथा है। उनके यहाँ भी सात जातियाँ हैं। हमारे नंदीश्वर की भांति वहाँ भी एक बैल-देवता हैं। अन्य कथाओं में भी बड़ी आश्चर्य-जनक समता मिल जाती है। वास्तव में पुराण-गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक तथा सांस्कृतिक इतिहास के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। परस्पर आदान-प्रदान के ये प्राचीन सूत्र नई विश्व मानवता को काफी ठोस आधार-भूमि दे सकते हैं।

ऐसे स्थलों पर व्युत्पत्ति-शास्त्र से बहुत सहायता नहीं मिल पाती, यद्यपि वहां भी कहीं-कहीं उल्लेख्य सदृशताएँ विद्यमान हैं, यथा, वैदिक द्यौः और ग्रीक ज़िअस में। लेकिन भविष्य में चलकर नाम और काम इन देवताओं के पृथक्-पृथक् स्थलों पर बदल गये हैं, फिर भी सदृशताओं के लिए यथेष्ट आधार हैं। यहाँ पर उन आधारों के परीक्षण में जाने से हम प्रसंग के बाहर चले जायेंगे। अस्तु, प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत का भान कराने वाला आदिम हिन्दू, ग्रीक या भारतीय न कहकर आर्य कहा जाना चाहिए। इस सम्बन्ध

इथ हैमिल्टन ने बड़ी रोचक और मनोवैज्ञानिक बात कही है—"मूर्तिकार खेलते हुए नवयुवकों के सुन्दर गठीले शरीर देखे और उसने अपोलो की र्ति खड़ी कर दी।" तथा होमर के अनुसार "(कहानीकार ने उस आयु तरुण में भगवान को देखा, जब तरुणाई सबसे अधिक मोहक होती है।" ही ऋग्वेद का गायक कहता है, "हे इन्द्र, वृद्ध पिता जैसा युवा पुत्र को रित करते हैं, उसी तरह देव-गण तुम्हें असुर-वध के लिए प्रेरित करते हैं।" था इसी प्रकार उसने उषा के रूप में प्रसन्नवदना तरुणी का अपने प्रियतम पास जाना देखा था। समस्त ग्रीक-कला और विचारधारा मनुष्य में न्द्रित थी, वैसे ही जैसे कि महाभारत के ऋषि ने जोरदार शब्दों में घोषणा की थी।

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न मानुष्याच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्।

सारांश यह कि इन पुराण-गाथाओं का संसार एक ऐसा संसार है जो सर्वथा मानवीय है। जहां कोई अज्ञात, अकारण क्रोधाभिभूत होने वाला ईश्वर नहीं है। भयानक असभावनाएं और डरावनी देवात्माओं की पूजा का पता नहीं। वायवीय और कपोल-कल्पित के पीछे भी इस लोक में एक लौकिकता और तथ्यात्मकता विद्यमान है। सम्पूर्ण वातावरण एक स्नेहमय और दयालु स्पर्श के द्वारा घरेलू और आकर्षक बना दिया गया है।

ग्रीक-माइथोलॉजी की दुनियाँ से जादू-टोना दूर था। केवल एक कथा ऐसी है, जिसमें दो स्त्रियाँ अति मानवीय शक्तियों से सम्पन्न हैं। परन्तु वे भी अप्रतिम सुन्दरी युवतियाँ हैं। इन गाथाओं में डायनों और शैतानों का अभाव सा है। ग्रीक-पुराण-गाथाओं में फलित-ज्योतिष का भी पता नहीं। नक्षत्रों की कथाएं हैं परन्तु कहीं ऐसा आभास नहीं होता कि वे मनुष्य के जीवन को प्रभावित करते हैं। फलित ज्योतिष सम्बन्धी किसी उल्लेख का ऋग्वेद में भी अभाव है। ग्रीक पुराण-गाथाओं के बारे में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि वहाँ पुरोहित या मठाधीश (Priest) का नितान्त अभाव है। ग्रीकों के यहाँ वह परमात्मा को प्रसन्न कर उनसे किसी प्रकार की दैवी या असामान्य शक्तियों को प्राप्त करने में असमर्थ है। 'ओडेसी' में जब एक पुरोहित एक कवि के साथ ओडेसियस के सम्मुख घुटनों के बल झुककर अपने प्राणों की भीख माँगता है तो नायक पुरोहित को मार डालता है पर कवि को बचा लेता है। होमर कहता है कि वह उस व्यक्ति को मारने में भय खाता है, जिसे अपनी कला की शिक्षा स्वर्ग से मिली है। इस प्रकार स्वर्ग से सम्बन्धित पुरोहित नहीं बल्कि कवि है। वहाँ हमें प्रेतात्माओं के भी दर्शन

नहीं होते। "प्रारम्भिक ग्रीक-पुराणकारों ने भयपूर्ण-संसार को सौंदर्य संसार में परिवर्तित कर दिया।"—एडिथ हैमिल्टन

परन्तु ग्रीक पुराण देवता भावात्मक-जगत में उतने उदात्त नहीं जितने कि भारतीय देवता। ग्रीक देवता बावजूद अपने सौंदर्य और परा के कतिपय नीच वृत्तियों से भी आक्रांत थे। वे ऐसे भी कार्य करने को तैय रहते थे जिसे कि कोई भी सभ्य स्त्री-पुरुष करना पसन्द न करेगा। वैदि पुराण-गाथा के बाद के विकास में इन्द्र और कुछ अन्य देवताओं मे यह दो अवश्य आया है कि वे दूसरे की सुन्दर पत्नी को वासनात्मक दृष्टि से देख हैं पर वैदिक देवताओं मे उदात्तता और पवित्रता, शक्ति और सौंदर्य, है एवं वीर्य की प्रतिष्ठा सदैव प्राप्त होती है। ग्रीक-देवता अनुचित का एवं अकारण क्रोध करने में भी सिद्धहस्त थे। वहाँ पर दैवी आत्माएँ कप क्रूरता के कार्य बिना किसी हिचकिचाहट के कर सकती हैं। भारतीय-पुरा गाथाओं में रुद्र ऐसे ही क्रोधी देवता के रूप में अवश्य आते हैं। पर आशुतोष भी हैं। सामान्यतः ये देवता दया और न्याय के पुञ्ज थे ग्रीक साहित्य में बाद को न्याय की धारणा आती है। तूफानों और वर्ष का देवता जियस वहाँ सर्वाधिक सत्ता-सम्पन्न और प्रमुख देवत है। होमर के जियस केवल गलत-सही की धारणाओं से परिचित हैं 'ओडेसी' और फिर 'हेसियोद' में वह अधिक ऊँचे स्तर पर पहुँच गया है इलियड में वह शक्ति-पक्षीय है और हेसियोद में न्याय-पक्षीय। वहाँ पर 'जियस के पार्श्व मे उसके सिंहासन पर न्याय का आसन है—न्यायी' सहायक तथा वरदाता के रूप में। ऋग्वेद में इन्द्र का स्वरूप अधिक स्पष्ट है। इन उभय देवताओं के सम्बन्ध में यह विचित्र विरोधाभास है कि इन्द्र का रूप बाद को पतित है जब कि जियस पतितावस्था से श्रेष्ठतर स्तरों की ओर बढ़ता है।

हिन्दू और ग्रीक पुराण-गाथाओं में एक बहुत बड़ा अन्तर पूज्य भावना और दृष्टिकोण का हो गया है। यह अंतर 'मिथ' और 'पुराण' शब्दों द्वारा ही स्पष्ट हो जाता है। मिथ का तात्पर्य ही कपोल-कल्पित और झूठ है, परन्तु हिन्दू-धर्म का रूप अधिकांशतः पौराणिक है। यह अठारह पुराणों और रामायण, महाभारत आदि पर आश्रित है, इसका ऐतिहासिक और धार्मिक कारण है। पश्चिम में ये पुराण-गाथाएँ, ईसाई मत के जन्म के पूर्व की हैं। ईसाई धर्म ने इन्हें अमान्य करार दिया। इन देवी-देवताओं को असत्य ठहराया और ईसाई धर्म के प्रसार के साथ-साथ इनका प्रभाव हल्का होता

गया। उन प्राचीन पुराण-देवताओं पर से विश्वास उठ गया। यद्यपि ग्रीक-कथाएँ देवी-देवताओं पर आधारित है, फिर भी इसी कारणवश कहा जाता है, "परन्तु ये (ग्रीक पुराण) ग्रीक बाइबिल या ग्रीक धर्म के वृत्तान्त की भाँति न पढ़ी जानी चाहिए।" अधुनातन पाश्चात्य विचारों के अनुसार गाथा और धर्म के मध्य कोई सम्बन्ध नहीं होता, जैसा कि पूर्व ही कहा जा चुका है, ये केवल इतना ही बताती हैं कि प्राकृतिक घटना क्यों घटित होती हैं ? बिजली इसलिए कड़कती है क्योंकि वृत्रासुर और इन्द्र में युद्ध हो रहा है, अथवा जिमस ने अपने शस्त्र को घुमाया है। ज्वालामुखी इसलिए धधक रहा है क्योंकि उसके अन्दर कोई शक्तिशाली जीव बन्द है जो बाहर निकलने को छटपटा रहा है अथवा भूचाल इसलिए आता है क्योंकि शेषनाग करवट बदलते हैं। कुछ गाथाएँ केवल मनोरञ्जन के लिए ही हैं जो अवकाश का समय काटने के लिए कही गई हैं। ये अधिकांश में रोमानी वातावरण से आपूर्ण हैं, जैसे ऋग्वेद में पुरूरवा और उर्वशी की कथा अथवा पिगमैलियन और गैलेटियर की कहानी।

परन्तु उपर्युक्त मत केवल ईसाई-धर्म के विकास-सम्बन्धी दृष्टिकोण से सम्बन्धित होने के कारण एकांगी और भ्रामक है। स्वयं पाश्चात्य विद्वानों ने स्वीकार किया है कि कला, धर्म और दर्शन का जन्म पुराण-प्रथाओं से ही हुआ है (पी० थामस)। 'मिथ' और 'आइडिया' में अत्यधिक भेद करना कठिन और अनुचित है। डाउसन ने माना है कि वैदिक स्तुतियों में 'आइडिया' और 'मिथ' सर्वदा अपने ताजे और सीधे-सादे रूप में अभिव्यक्ति हुए हैं। स्वयं एडिथ हैमिल्टन ने प्रकारान्तर से स्वीकार किया है कि पृष्ठभूमि में धार्मिकता अवश्य है, यद्यपि वह स्पष्ट नहीं है। होमर से लेकर यूनानी त्रासदीकारों तक यह समझने का प्रयत्न हुआ है कि मनुष्य को क्या होना चाहिए और उसे देवताओं से क्या प्राप्त करना चाहिए ? डा० कुक का मत है कि पुराण-गाथाएँ और धार्मिक कर्मकाण्ड एक दूसरे को प्रभावित अवश्य करते थे।

इतना निश्चित है कि पुराण शब्द के साथ निश्चित रूप से धार्मिक भावनाएँ लगी हुई हैं। पर यह धार्मिकता कर्मकाण्ड की भावना से पृथक् वस्तु है। इसी पवित्र भावना के कारण अधिकांशतः ये गाथाएँ अर्थहीन, अंट-शंट और अश्लील नहीं होने पाई हैं।

परन्तु जहाँ तक भारतीय पुराण-गाथाओं का प्रश्न है, वे जीवित धर्म के रूप में हैं। 'मिथ' शब्द का प्रयोग हम भारतीयों के लिए उसी रूप में नहीं किया जा सकता जिस रूप में यूनानियों के लिये होता है। भारतीयजन

वेद के तो प्रत्येक वाक्य को यथार्थ, अपौरुषेय और आप्त मानता ही है, अठारह पुराण उनके उपपुराण और रामायण, महाभारत को भी उतनी ही पुण्य-बुद्धि से समन्वित करके देखता है, जितना एक ईसाई बाईबिल को। इस सम्बन्ध मे एक बात कह देना अप्रासंगिक न होगा कि संसार के सभी धर्मों का व्यावहारिक-पक्ष अधिकांशतः ऊँचे स्तर के आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्वों से अछूता होता है, परन्तु भारतीय पुराण-गाथाओं की कथा-वाचक पण्डितों की परम्परा ने तथा आर्यसमाजी विद्वानों के शास्त्रार्थों और व्याख्यानों ने धर्म के ऊँचे तत्वों को अत्यन्त साधारण तथा अशिक्षित चित्त तक पहुँचाने का श्लाघनीय एवं महान् कार्य किया है। सामान्य भारतीय किसान न समझते हुये भी शंकराचार्य की भाषा में बोल जाएगा। यही नहीं उसके जीवन मे दार्शनिक की सी निश्चिंतता भी समा गई है।

भारतीय वाङ्मय की एक और विशेषता रही है कि धर्म, दर्शन, कर्मकाण्ड, साहित्य और पुराण परस्पर बहुत अधिक मिश्रित रहे हैं। दूसरी ओर एक मूल स्रोत से उद्भूत (वेदों से) प्रामाण्यवादी मनोवृत्ति के साथ अब तक धर्म चला आया है। नाना प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों से होकर यह गुजरा है। नया जल और नयी भूमि इसके पास आये है, पर प्रवाह का नैरन्तर्य नष्ट नही हो सका। इस तथ्य ने हमारी पुराण-गाथाओं में एक विचित्र गुण को जन्म दे दिया है। भारतीय पुराण-गाथाओं मे एकरूपता जैसी वस्तु का नितान्त अभाव है। कही विष्णु बड़े हैं और कहीं महेश। वैदिक-काल के प्रमुख देवता इन्द्र बाद की द्वितीय कोटि में पड़ गये और फिर भगवान् श्री कृष्ण ने तो उनकी उपासना ही बन्द करवा दी। अब तो वे विलासी देवराज के रूप में ही सुरक्षित है। शक्ति कही पर विष्णु से सम्बन्धित हैं और कहीं पर शिव से। ब्रह्मा को तो सृष्टि रचना का कार्य समाप्त करने के पश्चात् अनुपयोगी जान छुट्टी दे दी गई। नये-नये देवी-देवताओं का आगमन होता गया और बहु देवतावादी धर्म उन्हे अपने संयुक्त परिवार में स्वीकार करता गया। वास्तव में यह सम्प्रदायों के उद्भव, विकास और विद्वेष के कारण हुआ। यहां यह बात ध्यान में रखने की है कि विकास और एकरूपता में अंतर है। ग्रीक-देवताओं के स्वरूप में परिवर्तन केवल विकासमात्र है।

दोनों क्लासिकल पुराण गाथाओं में यह मतभेद, जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है, एक तो धर्म-प्रवाह के नैरन्तर्य के कारण है। दूसरे कारण की ओर इंगित करते हुए मैक्समूलर ने बताया है, "प्राचीन भारतीय काव्य से प्राचीनतम ग्रीक साहित्य का विस्तृत अन्तर कहीं भी इतना स्पष्ट

नुभव नहीं होता, जितना कि जब हम विकासमान वैदिक पुराण गाथाओं
ोर पूर्णतः विकसित और विकृत गाथाओं जिन पर होमर आधारित है,
ी तुलना करते हैं। आर्य जाति की यथार्थ देव-वंशावली वेदों में प्राप्त
ोती है। जब कि हेसियोद की (देव-वंशावली) मौलिक चित्र का विकृत
रूप है।" तात्पर्य यह कि यह अन्तर विकासमान और विकसित एवं साथ
था विकृत का है।

मैक्समूलर ने इन गाथाओं के तुलनात्मक अध्ययन की ओर कदम
ठाया था, परन्तु इस बीच यह कार्य कुछ शिथिल पड़ गया है। इन क्ला-
सकल पुराण-गाथाओं का अन्य देशों की गाथाओं और सभ्य तथा जंगली
ातियों की पुराण-गाथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन, अत्यन्त रोचक एवं
पादेय होगा।

पुराण-गाथा के वैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र में अभी बहुत अधिक कार्य
ोना शेष है। कथाओं के निर्माण, आदान-प्रदान, कर्मकाण्ड और धर्म के
रस्पर प्रभाव, पुजारियों और मठाधीशों का महत्वपूर्ण भाग इन सबका
ध्ययन होना चाहिए। नितान्त भिन्न संस्कृतियों वाले देशों की पुराण
ाथाओं के तुलनात्मक अध्ययन के साथ-साथ आदिम जातियों और असभ्य
मूहों की गाथाओं का अध्ययन भी नितांत अपेक्षित है।